नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 135 • वर्ष 11 अंक 8
सितम्बर 2009 • तीन रुपये • 12 पृष्ठ

ग़रीबों पर मन्दी का कहर अभी जारी रहेगा

पूँजीवाद के विनाशकारी संकट से उबरने के आसार नहीं!

इस व्यवस्था को क़ब्र में पहुँचाकर ही इन संकटों से निजात मिलेगी!!

सम्पादक मण्डल

योजना आयोग ने अपनी ताज़ा रिपोर्ट में भविष्यवाणी की है कि 11वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान अर्थव्यवस्था की विकास दर घटेगी और खाद्य वस्तुओं के दाम बढ़ेंगे। 2013 तक चलने वाली इस पंचवर्षीय योजना के दौरान विकास दर पहले 9.0 प्रतिशत रहने का अनुमान था लेकिन अब कहा जा रहा है कि यह महज़ 7.8 प्रतिशत रहेगी। रिपोर्ट के मुताबिक सेवा क्षेत्र और भवन निर्माण के क्षेत्रों में विकास की दर थोड़ी बढ़ेगी लेकिन कृषि और मैन्युफैक्चरिंग की दर घट सकती है।

उधर, आर्थिक विकास एवं सहकार संगठन (ओईसीडी) और संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन की संयुक्त रिपोर्ट 'कृषि अनुमान 2009-2018' के मुताबिक दुनिया की अर्थव्यवस्था की हालत भी ज़्यादा अच्छी नहीं है। रिपोर्ट कहती है कि अगर अगले दो-तीन साल में विश्वव्यापी मन्दी से उबरने की प्रक्रिया शुरू हो गयी तो कृषि की हालत में ज़्यादा गिरावट नहीं आयेगी, लेकिन अगर मन्दी की स्थिति और गम्भीर हुई तो खाद्य संकट फिर से गम्भीर हो जाने का जोखिम बढ़ जायेगा।

भारत और दुनिया की ग़रीब आबादी के लिए इस हालत के नतीजे बहुत गम्भीर होंगे। पिछले दो वर्ष से चले आ रहे भीषण खाद्यान्न संकट ने गरीबों के लिए जीना दूभर कर दिया है। पूँजीवादी आँकड़ों के खेल के चलते पिछले कुछ महीनों से देश में मुद्रास्फीति की दर घटकर शून्य हो चुकी है और अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में भी कीमतें कम हो चुकी हैं लेकिन देश की गरीब आबादी को इससे कोई राहत नहीं मिली है। बल्कि अनाज की जमाखोरी के चलते बाज़ार में गेहूँ, चावल, दाल, तेल सबकी कीमतें पहले से भी ज्यादा बढ़ गयी हैं।

मैन्युफैक्चरिंग सेक्टर में विकास दर धीमी रहने का मतलब है कि उद्योगों में बेरोज़गारी और वेतन कटौती बढ़ेगी तथा पूँजीपति काम के घण्टे बढ़ाकर और रफ़्तार तेज़ करके मजदूरों को ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़ने की कोशिश करेंगे। बेरोज़गारी और वेतन कटौती के असर से गरीबों के लिए खाद्यान्न संकट और भी गम्भीर हो जायेगा।

योजना रिपोर्ट के मुताबिक सेवा क्षेत्र और भवन निर्माण क्षेत्र में मन्दी का असर कम होने के संकेत मिल रहे हैं। लेकिन अर्थव्यवस्था की रीढ़ मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र ही है, जबकि सबसे अधिक लोगों को रोज़गार कृषि के क्षेत्र में मिला हुआ है। अगर कृषि और मैन्युफैक्चरिंग मन्दी की मार से तंग रहेंगे, तो अन्य सेक्टरों की कुछ बेहतर स्थिति अस्थायी ही हो सकती है।

खेती का संकट पूरी तरह पूँजीवादी नीतियों का परिणाम है। वैसे तो पूँजीवाद के तहत उद्योग के मुकाबले खेती हमेशा ही पिछड़ी रहती है लेकिन भूमण्डलीकरण के दौर की नीतियों ने खेती को पूरी तरह उद्योग की दासी बना दिया है। इसका आधुनिकीकरण भी मुनाफ़े के तंत्र और उद्योग की ज़रूरतों के अनुसार बेतरतीब और विकृत ढंग से हुआ है। विज्ञान और तकनोलॉजी की इतनी अधिक तरक्की के बावजूद आज भी हिन्दुस्तान की खेती मौसम के मिज़ाज पर निर्भर है। उत्पादन इन्सान की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए नहीं बल्कि बाज़ार में मुनाफा कमाने के लिए किया जाता है। एक तरफ करोड़ों लोग भूखे-नंगे हैं, दूसरी तरफ खाद्य फसलों का रकबा कम होता जा रहा है और कारों का ईंधन बनाने के लिए जटरोफ़ा, रतनजोत आदि की खेती से लेकर फूल वगैरह की पैदावार का रकबा बढ़ता जा रहा है। खेती के लिए नये-नये खाद, बीज, कीटनाशक, खरपतवारनाशक आदि की ज़रूरत बढ़ रही है और पूँजी निवेश पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। इसके चलते कर्ज़ और घाटे के जाल में उलझकर

(पेज 12 पर जारी)

एक तरफ़ भूख और अकाल - दूसरी तरफ़ गोदामों में सड़ता अनाज

यह है पूँजी की मुनाफ़ाखोर व्यवस्था की सच्चाई...

एक तरफ़ देश के आधे से अधिक जिले भीषण सूखे और अकाल से जूझ रहे हैं, देशभर में करोड़ों लोग अनाज की बढ़ती क़ीमतों के कारण आधा पेट ख़ाकर गुज़ारा कर रहे हैं, दूसरी ओर सरकारी गोदामों में पड़ा लाखों टन अनाज सड़ रहा है।

कृषि मन्त्री शरद पवार ने संसद में बताया कि इस वर्ष अप्रैल-मई के महीनों के दौरान परिवहन और भण्डारण के दौरान 2.2 लााख टन गेहूँ और चावल सड़ गया। इस अनाज से 12 लाख लोगों का एक साल तक पेट भरा जा सकता था। विशेषज्ञों का कहना है कि वास्तव में बर्बादी इससे भी ज़्यादा की होगी। पंजाब के तरनतारन ज़िले में 5300 टन गेहूँ खुले में पड़े-पड़े सड़ गया। अब यह गेहूँ जानवरों को खिलाने लायक भी नहीं रह गया है। जिस अनाज से 30,000 लोगों को एक साल तक खाना खिलाया जा सकता था, उसे अब खाद बनाने के लिए नीलाम कर दिया जायेगा! ये तो मात्र एक उदाहरण हौ। चण्डीगढ़ के पास खमाणू में गेहूँ की कई लाख बोरियाँ दो साल से खुले में पड़े-पड़े सड़ गयीं। पंजाब में कुल 155 लाख टन गेहूँ आज भी खुले में रखा हुआ है। तय है कि इसका भी अच्छा-खासा हिस्सा सड़ ही जायेगा।

दूसरे राज्यों का हाल भी ऐसा ही है। पश्चिम बंगाल में कुल 57,770 टन गेहूँ की सरकारी ख़रीद की गयी जिसका भारी हिस्सा खुले में पड़ा है। बिहार में गोदाम नहीं होने के कारण इस साल किसानों से 2 लाख टन धान खरीदा ही नहीं गया। उड़ीसा में 55 लाख टन अनाज की ख़रीद का लक्ष्य है लेकिन सिर्फ़ 7 लाख टन अनाज के भण्डारण का इन्तज़ाम है। नागरिक आपूर्ति विभाग के एक अफसर का कहना है कि उनका विभाग हर साल 1-2 प्रतिशत को "बरबाद" दिखा देता है, लेकिन वास्तव में बरबादी इससे बहुत ज़्यादा होती है। यानी हर वर्ष 50 हज़ार से लेकर एक लाख टन अनाज की बरबादी। बिहार में हर साल 27 लाख टन अनाज की सरकारी ख़रीद होती है जिसमें से 5 प्रतिशत यानी क़रीब एक लाख पैंतीस हज़ार टन अनाज गोदामों में खराब हो जाता है। देश के दूसरे राज्यों की हालत भी इससे अलग नहीं है।

सवाल सिर्फ़ भण्डारण में कमी के कारण अनाज के सड़ जाने का ही नहीं है - हर साल गोदामें में लाखों टन अनाज चूहे खा जाते हैं। ज़ाहिर है, इन "चूहों" में सरकारी कर्मचारियों और अफ़सरों का भी अच्छा-खासा हिस्सा होता है जो इस अनाज को काले बाज़ार में बेच डालते हैं।

कुछ वर्ष पहले अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने कहा था कि देश में अनाज का इतना अधिक भण्डार है कि अगर अनाज की बोरियों को एक के ऊपर एक रखा जाये तो उनकी ऊँचाई चाँद तक पहुँच जायेगी। लेकिन इस विशाल

(पेज 11 पर जारी)

भीतर के पन्नों पर

पहली अरविन्द स्मृति संगोष्ठी की रपट 'विश्व पूँजीवाद की संरचना एवं कार्यप्रणाली तथा उत्पादन-प्रक्रिया में बदलाव मज़दूर-प्रतिरोध के नये रूपों को जन्म देगा' - पृ. 6

दिल्ली मेट्रो के हज़ारों निर्माण मज़दूरों के नारकीय हालात – पृ. 3

अमानवीय शोषण-उत्पीड़न में जीते तमिलनाडु के भट्ठा मज़दूर – पृ. 4

छँटनी के ख़िलाफ़ कोरिया के मजदूरों का बहादुराना संघर्ष – पृ. 5

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें? (तीसरी किश्त) पृ. 9

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

गोरखपुर के संगठित मज़दूरों के नाम

साथियो, आगे बढ़ो...

जुलाई महीने का बिगुल पढ़कर बड़ी खुशी हुई। गोरखपुर के एकजुट मज़दूरों के संघर्ष की शानदार जीत यह दर्शाती है कि निराशा के इस दौर में मज़दूरों के संघर्ष की नयी शुरुआत हो रही है। संघर्ष के अलावा और कोई चारा नहीं है।

मैं एक टेक्सटाइल मज़दूर हूँ। मज़दूर संगठन में काम कर चुका हूँ। इसलिए अपने कुछ अनुभव मैं गोरखपुर के मजदूर साथियों के साथ साझा करना चाहता हूँ।

सन् 1995-96 में मैं महाराष्ट्र के उपनगर में काम करता था जिसे उल्हास नगर के नाम से जाना जाता है। यहाँ पर मज़दूरों ने यूनियन के नेतृत्व में लम्बी लड़ाई लड़कर कई तरह के अधिकार हासिल किये। काम तो हम लोगों का पीस रेट पर ही था। मज़दूरों ने पीस रेट भी दुगुना कराया, बोनस-फ़ण्ड सर्विस आदि अधिकार भी हासिल किये, लेकिन यह ज़्यादा समय तक नहीं चल पाया। छठा साल बीतते-बीतते सब कुछ बिखर गया। कारण बाज़ार की प्रतिस्पर्धा, कम्पीटीशन।

हमारे शहर से चालीस किलोमीटर की दूरी पर एक शहर भिवण्डी था जो टेक्सटाइल इण्डस्ट्रीज़ का गढ़ है। उस शहर में कपड़े के अलावा और कोई कारोबार नहीं है। इस शहर के मज़दूरों को कोई सामाजिक सुरक्षा हासिल नहीं है। कारख़ानों में श्रम क़ानून लागू नही हैं। इसलिए यहाँ के पूँजीपतियों को उत्पादन पर लागत ख़र्च कम आता है और हमारे शहर के पूँजीपतियों को रेट भी बढ़ाकर देना था, कई तरह के श्रम क़ानून लागू थे। इसलिए उनके उत्पादन पर लागत ज़्यादा आती थी लेकिन उत्पादन बेचने का बाज़ार दोनों का एक था – काताबा देवी। जिसकी लागत ज़्यादा आती थी उसका माल महँगा होता था; जिसकी कम आती थी उसका माल सस्ता होता था। जब बाज़ार में ऐसी हालत हो कि एक ही क्वालिटी का माल हो और एक महँगा हो एक सस्ता तब तो ज़ाहिर है ग्राहक सस्ता माल ही ख़रीदेगा। ऐसे में हमारे शहर का पूँजीपति कितने समय तक टिकता।

पूँजीपति का काम मुनाफ़ा कमाना है, समाज सेवा नहीं। जब उसका मुनाफ़ा नहीं बचेगा तो फ़ैक्ट्री क्यों चलायेगा। आख़िर उन्होंने फ़ैक्ट्रियों को बन्द कर दिया। यूनियन नेताओं ने जैसा कहा, उस तरह मज़दूरों का हिसाब कर दिया। सारे कारख़ानों को उठाकर भिवण्डी शहर में लगा दिया। जहाँ ये आज भी चल रहे हैं।

जब मज़दूर ऐसे हालात से गुज़रता है तो बहुत निराश हो जाता है। कुछ लोग तो अपनी बर्बादी का ज़िम्मेदार यूनियन को मानने लगते हैं। जहाँ तक मैं मानता हूँ कि इस हार की ज़िम्मेदारी शीर्ष नेताओं और मज़दूर संगठनकर्ताओं की बनती है। हमारे शहर के नेता और संगठनकर्ता अपने शहर की लड़ाई जीतकर चुपचाप तमाशा देखते रहे। मज़दूरों के फ़ण्ड से ऐश करते रहे। उन्हें लगा यथास्थिति ऐसे ही बनी रहेगी। उन्होंने संगठन को फैलाने की कोशिश नहीं की। अगर हमारे संगठनकर्ता भिवण्डी शहर के मज़दूरों को गोलबन्द करके अपने आन्दोलन में शामिल करवाते उन्हें भी वह अधिकार दिलवाते जो हमारे शहर के मज़दूरों को मिलता था तो दोनों शहर के पूँजीपतियों की लागत समान होती और बाज़ार भाव भी समान होते।

यूनियन के टूटने और बिखरने का एक कारण यह भी रहा कि प्रदेश स्तर पर या देश स्तर पर इसको फैलाने की कोशिश नहीं की गयी। जब किसी एक या दो कारख़ानों में मज़दूर एकजुट संघर्ष करके जीत हासिल करते हैं तब तो संगठन और संगठनकर्ताओं का फ़र्ज़ और बढ़ जाता है कि पूरे शहर में फैलाव करते हुए प्रदेश स्तर पर लाया जाये। अगर ऐसा न किया गया तो शायद गोरखपुर के मज़दूर भी उसी हालात से गुज़रेंगे जिस हालात से हमारे शहर के मज़दूर गुज़रे थे। गोरखपुर के जिन कारख़ानों में यूनियन बनी है, उनमें जिस तरह का उत्पादन होता है वैसा उत्पादन करने वाले गोरखपुर के आसपास के इलाक़ों में तमाम कारख़ाने होंगे। उसी तरह का उत्पादन पूर्वांचल के कई शहरों में होता होगा। इस उत्पादन को बेचने का बाज़ार लगभग सभी लोगों का एक ही होगा।

अगर गोरखपुर के संगठित मज़दूरों को बचाना है तो ज़रूरी है इस तरह के सभी कारख़ानों में यूनियन बनायी जाये। संगठन का विस्तार प्रदेश से लेकर पूरे देश में फैलाया जाये। तभी सफलता हासिल की जा सकती है।

हमारी तरफ़ से मज़दूर साथियों के लिए एक गीत –

ओ मज़दूर साथी निकलो बनके संघर्ष के सिपाही,
लोग देखेंगे अरमान से अपनी शक्ति ऊँची आसमान से।
पैसे वालों से न डरना ख़ूब मेहनत से लड़ना,
जीत होगी अपनी शान से अपनी शक्ति ऊँची आसमान से।
रो-रो करके दुखड़ा अपना जग को कब तक सुनाओगे,
जंग लड़ोगे हिम्मत से तब हक़ अपना पाओगे।
तुम हिम्मत न छोड़ो सबको संगठन से जोड़ो,
जीत होगी अपनी शान से अपनी शक्ति ऊँची आसमान से।
साथ में लेकर मज़दूरों को यूनियन हमने बनायी है,
दर्द जो समझे मज़दूरों का वह मज़दूरों का भाई है।
तुम इतना समझना कभी आपस में न लड़ना,
हमको लड़ना है धनवान से अपनी शक्ति ऊँची आसमान से।
ख़ून चूसकर मज़दूरों का, बंगला बड़ा बनाया है,
जिस स्तम्भ पर टिका है बंगला, मज़दूर ही इसका पाया है।
इस पाये को हटा दो इस बंगले को गिरा दो,
बाहर कर दो इस मकान से अपनी शक्ति ऊँची आसमान से।
आज तुम देखो मज़दूरों ने ख़ुद को कितना गिराया है,
मज़दूरी के बदले देखो इसने थप्पड़ खाया है।
तुम आज फ़ैसला कर लो ख़ुद से ये वादा कर लो
बदला लोगे थप्पड़ की जबान से अपनी शक्ति ऊँची आसमान से।

– टी.एम. अंसारी, लुधियाना

अब तो देसवा में फैल गईल बिमारी

अब तो देसवा में फैल गईल बिमारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी।

मज़दूर ग़रीब रात दिन कमाये,
फुटपाथ पर सो-सो के अपना जीवन बिताये।
तो ओकरे जीवन में दुख भारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी...अब तो देसवा...

बल-छल कपट के ओकरे हइ जमाना,
बड़े-बड़े कोठी धरल रुपया के भरला खजाना।
उहो देशवा से करेला गद्दारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी...अब तो देसवा...

आज के नेतवन के बिगड़ल चलनिया,
झूठा-झूठा वादा करे देश में देवे भाषणिया,
तो आज इनके हटावा देश से किनारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी...अब तो देसवा...

दहेज खातिर बहू के आग में जलावल जाला,
हक़ माँगे मज़दूर तो केस में फसावल जाला,
इहे है सरकार, अफ़सर, पुलिस के नीति दमनकारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी...अब तो देसवा...

महँगाई बेरोजगारी देश में कैसे मिट पाई,
बाल-बच्चा लड़कन हमनी के स्कूल में कैसे पढ़ पाई,
तो पूँजीवाद बन गईल विनासकारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी...अब तो देसवा...

कुर्सी खातिर नेता देश में धर्म के देवें नारा,
दंगा फसाद करके मिटावें आपसी भाईचारा,
अब तो हमनी हटावल देश से भ्रष्टाचारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी...अब तो देसवा...

नेता राज ठाकरे फैलौले क्षेत्रवाद के लहरिया,
उत्तर भारत के लोग छोड़ दा तू मुम्बई शहरिया,
अब तो देशवा में जीयल हो गई भारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी...अब तो देसवा...

शहीद भगत सिंह देहले देश में इंकलाब का नारा,
श्रमिक क्रान्ति फैली तो देश में होई उजाला,
संगठन बनाला क्रान्तिकारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी....अब तो देसवा....

समाजवाद के परचम हमनी देश में फैरावल,
बिगुल अखबार पढ़िके गियान के जोत जगावा,
कहला सिद्धेश्वर क्रान्तिकारी,
तो सुनो भइया देश के जनता दुखियारी....अब तो देसवा....

सिद्धेश्वर यादव, वेल्डर,
फ़ौजी कॉलोनी, शेरपुर, लुधियाना

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक
बिगुल

अब इण्टरनेट पर भी उपलब्ध है। इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक और राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हमारा प्रयास होगा कि बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक जल्दी ही वेबसाइट पर उपलब्ध करा दिये जायें।

वेबसाइट का पता :

http://sites.google.com/site/bigulakhbar

'बिगुल' के ब्लॉग पर भी
आप इसकी सामग्री पा सकते हैं
और अपने विचार एवं सुझाव भेज सकते हैं।

ब्लॉग का पता :

http://bigulakhbar.blogspot.com

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डापफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 0522-2335237
सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ
दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर दिल्ली-94
ईमेल : bigul@rediffmail.com

मूल्य : एक प्रति–रु. 3/- वार्षिक–रु. 40.00 (डाक ख़र्च सहित)

बिगुल

'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध :

1. **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
2. **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे तक)**
3. **जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001**
4. **जनचेतना सचल स्टाल (ठेला) चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8)**

कारख़ाना मालिकों की मुनाफ़े की हवस ने किया एक और शिकार

लुधियाना के रंगाई कारख़ानों में कभी बॉयलर फटने, कभी मशीन की खराबी से मज़दूरों की जान जाने का सिलसिला रुक ही नहीं रहा है। मालिकों के लालच और लापरवाही का शिकार होने वाले मज़दूरों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। 14 अगस्त को श्रीगणेश डाईंग में मशीन फटने से नीलू नाम का एक और मज़दूर मुनाफ़े की हवस का शिकार हो गया।

श्रीगणेश डाईंग फ़ैक्ट्री लुधियाना शहर से सटे भामिया गाँव में स्थित है। यहाँ 100 से अधिक मज़दूर काम करते हैं। काम ठेके पर होता है। किसी भी तरह का कोई श्रम क़ानून लागू करना कारख़ाना मालिक आपनी तोहीन समझते हैं। यहाँ तक कि मज़दूर का नाम तक हाजिरी रजिस्टर पर दर्ज नहीं होता। कोई भी विवाद होने पर मज़दूर अपने को फ़ैक्ट्री का मज़दूर साबित नहीं कर पाता। मालिक सारा काम ठेके पर देकर अपना पल्ला झाड़ चुका है। मालिक, मज़दूर की सुरक्षा की जिम्मेदारी ठेकेदार और खुद मज़दूर पर डाल चुका है। यानी नीलू की मौत मुनाफ़े की हवस की वजह से हुई, जिसके चलते इंसान की ज़िन्दगी से ज़्यादा मुनाफ़े को महत्व दिया जाता है।

नीलू बिहार के गया जिले का रहने वाला था। इस कारख़ाने में पिछले लगभग 8-9 महीने से काम कर रहा था। रंगाई की जिस मशीन को नीलू चला रहा था उस मशीन को चलाने के लिए कुशल मज़दूर की जरूरत रहती है। लेकिन कुशल मज़दूर अधिक वेतन की माँग करते हैं। वे 12 घण्टे 4,000 रुपये पर खटने को तैयार नहीं होते। मालिक ने अपना पैसा बचाने के लिए नीलू को रखा था। मशीन में भाप के अधिक दबाव से मशीन फट गयी और गर्म पानी और कपड़ा नीलू के ऊपर आ गिरा। 99 प्रतिशत जले हुए नीलू को एक निजी अस्पताल में भर्ती कराया गया, जहाँ लगभग एक दिन रहने के बाद उसकी मौत हो गयी। तीसरे दिन परिजनों के आने के बाद नीलू का अन्तिम संस्कार हुआ। मालिक ने 85,000 रु. और अंतिम संस्कार का खर्चा देकर नीलू की जान लेने के अपने गुनाह से निजात पा ली। इस घटना के बारे में किसी टेलीविजन या अखबार में नहीं आया। खबर को इस तरह दबा दिया गया कि कारख़ाने के आसपास रहने वाले लोगों तक को इस घटना की जानकारी ही नहीं मिली।

नीलू के साथ रहने वाला एक आदमी कह रहा था "मालिक तो बहुत अच्छा है। उसने बिना माँगे ही इतना दे दिया। नुक्सान तो मालिक का भी हुआ है। नीलू की किस्मत में यही लिखा हुआ था। कोई क्या कर सकता था।" उसके इन शब्दों से कुछ और मज़दूर भी सहमत थे। लेकिन एक बात सोचने लायक है कि मालिक भी उसी फ़ैक्ट्री में आता-जाता है जहाँ मज़दूर काम करता है। फिर हर रोज होने वाले हादसों में हमेशा मज़दूर ही क्यों मरता है। कोई मालिक क्यों नहीं मरता? अगर ऊपर से लिखे होने की बात है तो मालिक की मौत क्यों कारख़ाने में होने वाले किसी हादसे के दौरान क्यों नहीं लिखी होती? असल में ऊपर से कुछ नहीं लिखा होता। जो मशीन पर काम करता है दुर्घटना उसी के साथ होती है। मालिकों के लिए तो मज़दूर एक मशीन का पुर्जा है, न कि इन्सान! पुर्जा बिगड़ने के बाद नया लगा दिया जाता है। नीलू की जगह भी और कोई नया पुर्जा ले लेगा। मालिकों की फ़ैक्ट्री का बीमा रहता है। उसकी तो नई मशीन लग जायेगी। इसलिए उसका कोई नुकसान नहीं होता। लेकिन नीलू के माँ-बाप के लिए नीलू लौट कर नहीं आएगा! किसी इन्सान की क़ीमत कभी नहीं लगाई जा सकती। भविष्य में उस इन्सान को पता नहीं कितने काम करने थे जो उसके परिवार और समाज के लिए ज़रूरी होते।

यह मसला एक नीलू की मौत का नहीं है। मसला है मालिकों द्वारा श्रम क़ानूनों और सुरक्षा मानदण्डों की धज्जियाँ उड़ाने का। मालिकों और श्रम विभाग के अधिकारियों के नापाक गठबन्धन के कारण मज़दूर आज पिस रहे हैं। लेकिन यह सोचना होगा कि कब तक मज़दूर नीलू की तरह मालिकों के मुनाफ़े की हवस की भेंट चढ़ते रहेंगे, कब तक अपनी हड्डियाँ उनके महलों में ईंटों की जगह चिनते रहेंगे, कब तक खुद के घर के दिये बुझाकर उनके महलों को रोशन करते रहेंगे?

● राजविन्दर

दिल्ली के समयपुर व बादली औद्योगिक क्षेत्र की ख़ूनी फ़ैक्ट्रियों के ख़िलाफ़ बिगुल मज़दूर दस्ता की मुहिम

बिगुल संवाददाता

गत 30 अगस्त को 'हितकारी ब्रदर्स', शेड 5, बादली औद्योगिक क्षेत्र स्थित फैक्ट्री में अजय ओझा नाम के मज़दूर की सीने में लोहे की पत्ती लगने से मौत हो गयी। अजय बादली की ख़ूनी फ़ैक्ट्रियों का एक और शिकार बन गया! पिछले चन्द महीनों में इस छोटे से औद्योगिक क्षेत्र में दुर्घटना में हुई मौत की यह कम से कम छठी घटना थी।

बादली औद्योगिक क्षेत्र की फ़ैक्ट्रियाँ मज़दूरों के लिए मौत के कारख़ाने बन चुकी हैं! इन फ़ैक्ट्रियों को मज़दूरों के ख़ून का स्वाद लग चुका है। यही ख़ून मुनाफ़े में बदल कर मालिकों की तिजोरी में चला जाता है और इस ख़ून का निश्चित हिस्सा थाने-पुलिस- नेता-अफ़सरों तक भी नियमित रूप से पहुँचता रहता है। इसी वजह से लगातार हो रही मज़दूरों की मौतों पर कोई कार्रवाई नहीं होती है! ख़ूनी कारख़ाना चलता रहता है, हत्यारे मालिक का मुनाफ़ा पैदा होता रहता है, पूँजी की देवी के खप्पर में मज़दूरों की बलि चढ़ती रहती है!

ये सभी मौतें नियमों के उल्लंघन तथा कारख़ाना मालिकों की लापरवाही के कारण हुई हैं। इतना ही नहीं, इन औद्योगिक क्षेत्रें में आये दिन होने वाली छोटी-बड़ी दुर्घटनाओं में मज़दूरों के अंग-भंग होने तथा अन्य गंभीर चोट लगने की घटनाओं की तो कोई गिनती ही नहीं है। ऐसी अधिकांश घटनाएँ फैक्ट्रियों में सुरक्षा के न्यूनतम मानकों का पालन नहीं करने तथा मज़दूरों को सुरक्षा के न्यूनतम उपकरण भी प्रदान नहीं करने के साथ ही मशीनों की स्पीड बढ़ाकर उनसे अधिक से अधिक काम कराने के कारण होती हैं।

यहां के तमाम कारखानों में श्रम कानूनों का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन किया जाता है। लगभग सभी कारखानों में न्यूनतम मज़दूरी, काम के घंटों, नियमानुसार ओवरटाइम, ई.एस.आई., पी.एफ. आदि का पालन नहीं किया जाता है। काम की परिस्थितियाँ बेहद खराब तथा अस्वास्थ्यकर हैं जिसके कारण हज़ारों मज़दूरों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ रहा है। अधिकांश कारखानों से होने वायु, ध्वनि तथा जल प्रदूषण के कारण इनमें काम करने वाले मज़दूरों के स्वास्थ्य के साथ ही रिहायशी इलाकों में रहने वाले मज़दूरों के परिवारों एवं स्थानीय नागरिक आबादी के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ रहा है।

बिगुल मज़दूर दस्ता ने दुर्घटना के नाम पर मज़दूरों की इन हत्याओं के ख़िलाफ़ मुहिम छेड़ी है। इन हालात के ख़िलाफ़ मज़दूरों को जागरूक और संगठित करने के लिए दस्ता ने इस मुद्दे पर अब तक चार पर्चे निकाले हैं और बादली, समयपुर, राजा विहार, सूरज पार्क, लिबासपुर, सिरसपुर आदि बस्तियों में मज़दूरों के बीच सान प्रचार अभियान चलाया है। मिलमालिकों, पुलिस और स्थानीय नेताओं की साँठगाँठ इतनी नंगी है कि जून में एक मज़दूर की मौत के बाद पर्चा बाँट रहे दस्ता की टोली को स्थानीय विधायक के दफ़्तर से फ़ोन करके धमकियाँ दी गयीं। पर्चे बाँटते समय पुलिस के लोग जगह-जगह न सिर्फ़ रोकते हैं बल्कि परोक्ष रूप से धमकाते भी हैं कि इस मामले में मत पड़ो।

सितम्बर महीने के शुरू में बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं ने इस मुद्दे को लेकर उप श्रमायुक्त और पुलिस उपायुक्त को अलग-अलग ज्ञापन दिया और कार्रवाई की माँग की। श्रमायुक्त को दिये गये ज्ञापन में कहा गया है कि :

1. औद्योगिक दुर्घटनाओं में मज़दूरों की मृत्यु की घटनाओं की जाँच कराकर दोषी फैक्ट्री मालिकों एवं प्रबंधकों के विरुद्ध कार्रवाई की जाए एवं मृतक के परिजनों को उचित मुआवज़े का भुगतान सुनिश्चित कराया जाए। 2. बादली एवं समयपुर औद्योगिक क्षेत्रों में स्थित कारखानों में सरकार द्वारा निर्धारित सुरक्षा मानकों एवं उपायों के उल्लंघन की जाँच कराकर इनका सख्ती से अनुपालन कराया जाए। 3. फैक्ट्रियों में श्रम कानूनों के घोर उल्लंघन की जाँच कराई जाए तथा न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे, ओवरटाइम, ई.एस.आई., पी.एफ. आदि को नियमानुसार लागू कराया जाए।

पुलिस उपायुक्त को दिये ज्ञापन कहा गया है कि स्थानीय पुलिस के पक्षपातपूर्ण रवैये के कारण कानूनी प्रक्रिया आगे ही नहीं बढ़ पाती है। अधिकांश मामलों में मामला ही दर्ज नहीं किया जाता है और पोस्टमार्टम की कार्रवाई तक पूरी नहीं की जाती है।

ज्ञापन में मज़दूरों की मृत्यु की घटनाओं की जाँच कराकर दोषियों के विरुद्ध कार्रवाई करने एवं मृतक के परिजनों को उचित मुआवज़े का भुगतान सुनिश्चित कराने, ऐसे सभी मामलों में एफआईआर दर्ज करने, तथा फैक्ट्रियों में सुरक्षा मानकों तथा श्रम कानूनों के उल्लंघन की शिकायतों पर निष्पक्ष कार्रवाई के लिए स्थानीय पुलिस को कड़े निर्देश देने की माँग की गयी है।

दस्ता ने दिल्ली के विभिन्न औद्योगिक क्षेत्रों में दुर्घटनाओं में मज़दूरों की मौतों के बारे में एक सर्वेक्षण भी शुरू किया है और इस मुद्दे पर मज़दूरों के बीच प्रचार और आन्दोलन की मुहिम और तेज़ करने का फ़ैसला किया है।

दिन-ब-दिन बिगड़ती लुधियाना के पावरलूम मज़दूरों की हालत

लुधियाना के बहुत बड़े इलाके में पावरलूम चलता है। हजारों कारीगर पावरलूम मशीनों पर 12-14 घण्टे काम कर रहे हैं। औसत कारीगर शॉल बनाने वाली 3-4 प्लेन और ढाबी मशीनें तथा 2 जैकेट बनाने वाली मशीने तक एक साथ चला रहे हैं। 12 घण्टे में बहुत अधिक काम करने के बाद भी 3,500 से 6,000 तक वेतन बन पाता है। लेकिन अब बिजली कमी के कारण लम्बे-लम्बे पावर कट लग रहे हैं। टेक्सटाइल कॉलोनी में तो हफ़्ते में तीन दिन बिजली का कट लग रहा है। जिन कारख़ानों में जनरेटर नहीं है वहाँ के कारीगर महीने में 15-16 दिन ही काम कर रहे हैं। कुछ बड़े कारख़ानों को छोड़कर सभी जगह पीस रेट पर काम होता है। इनमें कोई श्रम क़ानून लागू नहीं है। पीस रेट पर काम होने की वजह से बिजली कट का सारा बोझ मज़दूरों पर आन पड़ा है। अब जब आटा 14-15 रु, दाल 90-100 रु. सरसों का तेल 80 रु, चीनी 34-35 रु, मिट्टी का तेल 25-30 रु लीटर और कमरे का किराया 500-600 चल रहा है। तो देखा जा सकता है कि इस मँहगाई के जमाने में इतने कम वेतन में किस के घर का खर्च चल सकता है।

दूसरी तरफ़ जो कारख़ाना 15-16 साल पहले 1 शिफ़्ट चलता था अब दिन-रात चल रहा है। कारीगर दिन-रात काम करने पर मजबूर हैं। लेकिन महँगाई बढ़ने के साथ-साथ आमदनी में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई। जो बेहद मामूली बढ़ोत्तरी हुई है वह बढ़ी हुई क़ीमतों के मुकाबले बेहद कम है। घर की जरूरतें पूरी करने के लिए कारीगर अपने काम के घण्टे बढ़ा रहा है और एक साथ कई-कई मशीनों पर काम रहा है।

पावरलूम के हज़ारों कारीगर जिस रेट पर आज पीस बना रहे हैं वह आज से 16-17 साल पहले से भी कम है। पहले कारीगर एक मशीन चलाकर आठ घण्टे में 3500 रु तक आराम से बना लेता था अब वह दो मशीन पर 12 घण्टे में भी मुश्किल है। पहले महँगाई भी कम थी। आटा 6-7 रु किलो, दाल 12-15 रु, सरसों का तेल 15 रु लीटर, चीनी 6-7 रु किलो, मिट्टी का तेल 2 रु लीटर और कमरा किराया 250 तक था। कारीगर पर्याप्त खर्च करके भी अच्छा पैसा बचा लेता था। उस समय पावरलूम का काम शाही काम माना जाता था। सरकारी नौकरी भी इस काम से पीछे थी। अब यह काम कारीगरों के लिए साँप के मुँह में छिपकली वाली बात बन गया है जो न छोड़ी जाती है न निगली जाती है। लूम कारीगर काम की लाइन भी बदलने से डरते हैं क्योंकि जो नया काम करेंगे उस में तो और भी कम पैसा मिलेगा। नये मज़दूर लूम का काम नहीं सीख रहे हैं। पुराने कारीगर बजुर्ग होने के चलते काम छोड़ते जा रहे हैं जिससे कारीगरों की काफ़ी कमी हो गई है। इससे निपटने के लिए मालिकों ने तरह-तरह के तरीकों से मज़दूरों को कारख़ानों में रोक रखा है। इसमें एक कारगर तरीका है-कुछ पैसा कारीगरों को एडवांस देकर। कमाई बहुत कम होने के चलते मज़दूर एडवांस जल्दी चुका नहीं पाता है। एक बार कोई कारीगर किसी मालिक से कर्ज ले लेता है तो पूरा सीजन उससे छूट नहीं पाता है। कई तो कई साल एक ही मालिक के पास काम करने पर मज़बूर हो जाते हैं। कारीगर मालिक से एडवांस लेते हैं तो वे पीस रेट बढ़ाने के लिए भी मालिक को कहने से बचते हैं। इस तरह मालिकों का तो दिन रात काम चल रह है, और मज़दूर की फ़िक्र किसी को है नहीं।

पुराने कारीगरों के अनुसार 1992 में सीटू के नेतृत्व में टेक्सटाइल मज़दूरों की हड़ताल हुई जो 20-25 दिन तक चली थी उस हड़ताल में मज़दूरों की हार हुई और इसके बाद में मालिकों ने हमला करना शुरू कर दिया। सबसे पहले मन्दी का बहाना बनाकर पीस रेट 2 रुपए कम कर दिया। तय किया गया 8.33 प्रतिशत बोनस भी धीरे-धीरे बन्द कर दिया। उस हड़ताल में 70 प्रतिशत पंजाबी कारीगर थे जिनमें से बहुतेरों को मालिकों ने निकाल दिया। कई ने काम की ख़राब स्थितियों के चलते काम छोड़ कर अन्य काम पकड़ लिया। अब बहुत कम स्थानीय मज़दूर इस लाइन में काम कर रहे हैं।

इस तरह पावरलूम मज़दूरों की हालत दिन-ब-दिन बद से बदतर होती जा रही है। उनमें एकता का अभाव चिन्ता पैदा करता है। पूँजीपति मज़दूरों में एकता न होने का पूरा-पूरा फ़ायदा उठा रहे हैं। पावरलूम मज़दूरों को अपनी परिस्थितियों को सुधारने के लिए एकता बनाने की तरफ़ क़दम उठाने ही होंगे। आज नहीं तो कल उन्हें इस बारे में सोचना ही होगा।

● राजविन्दर

कमरतोड़ महँगाई और बेहिसाब बिजली कटौती के ख़िलाफ़ धरना

कारख़ाना मज़दूर यूनियन, लुधियाना, नौजवान भारत सभा, मोल्डर एण्ड स्टील वर्कर्ज़ यूनियन, डेमोक्रेटिक टीचर्स फ्रन्ट, डेमोक्रेटिक इम्पलाईज़ फ्रन्ट, इंक़लाबी केन्द्र पंजाब और लोक मोर्चा पंजाब द्वारा खाद्य पदार्थों की आसमान छूती क़ीमतों और बेहिसाब बिजली कटौती के ख़िलाफ़ इस महीने की 2 तारीख को लुधियाना के डी.सी. कार्यालय के सामने जोरदार प्रदर्शन किया गया और तीन घण्टे तक धरना दिया। इसमें सरकार से माँग की गयी कि अनाज की क़ीमतें कम करने के लिए फ़ौरी तौर पर क़दम उठाये जायें, सरकार की तरफ़ से सभी ग़रीबों को सस्ते दामों पर अनाज मुहैया करवाया जाये, बिजली की बेहिसाब कटौती बन्द की जाये, बिजली की पूर्ति के पुख़्ता इन्तजाम किये जायें। धरना-प्रदर्शन में बड़ी संख्या में पहुँचे कारख़ाना मज़दूरों सहित नौजवानों, अध्यापकों तथा अन्य सरकारी कर्मचारियों ने रोषपूर्ण नारे लगाते हुए कमरतोड़ महँगाई और बिजली की भारी कमी के लिए मुख्य तौर पर जिम्मेदार मुनाफ़ाख़ोरों और सरकार के नापाक गठबन्धन के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द की। "मुनाफ़ाख़ोरों-सरकारों का जनविरोधी गठबन्धन मुर्दाबाद", "मेहनतकशों की एकता जिन्दाबाद", "कमरतोड़ महँगाई का कौन है जिम्मेदार, मुनाफ़ाख़ोर लुटेरे और यह सरकार", "खत्म करो पूँजी का राज, लड़ो बनाओ लोकस्वराज", आदि गगनभेदी नारों से पूरा मिनी सेकेट्रिएट गूँज उठा।

कारख़ाना मज़दूर यूनियन, लुधियाना के संयोजक राजविन्दर ने धरने को सम्बोधित होते हुए कहा कि देश की सरकारों को ग़रीबों की कोई फ़िक्र नहीं है। इस बात का सबूत यह है कि एक तरफ़ तो सरकारी गोदामों में अनाज सड़ रहा है लेकिन भूख से तड़प रही जनता को नहीं दिया जा रहा। देश के बड़े-बड़े व्यापारियों ने करोड़ों टन अनाज जमा करके रखा हुआ है, वे मनमर्ज़ी से क़ीमतें तय कर रहे हैं, वे अनाज की नकली कमी पैदा कर रहे हैं, महँगाई बढ़ा रहे हैं। लेकिन सरकार इस मुनाफ़ाख़ोरी और कालाबाज़ारी को रोकने के लिए कोई भी क़दम उठाने को तैयार नहीं। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि यह बात साफ़ हो चुकी है कि देश की सरकारों से अब ग़रीब मेहनतकशों को कोई आशा नहीं रखनी चाहिए बल्कि अपने हक़ ख़ुद लेने के लिए एकजुट होकर संघर्ष करने का रास्ता ही ग़रीबों की हालत में कोई सही बदलाव ला सकता है।

नौजवान भारत सभा, पंजाब के संयोजक परमिन्दर ने कहा कि इस महँगाई और बिजली की कमी के कारण प्राकृतिक नहीं हैं जैसा कि केन्द्र और पंजाब सरकार बकवास कर रही है। असल में यह तो मुनाफ़ाख़ोरी का नतीजा है और सरकार की मुट्टीभर पूँजीपतियों के पक्ष में और विशाल जनता के ख़िलाफ़ अपनायी गयी नीतियों का नतीजा है। पूँजीवादी सरकार जनता की पेट की भूख तक मिटाने को तैयार नहीं तो ऐसे में यह आसानी से समझा जा सकता है कि सरकार जनता के फ़ायदे के लिए बिजली की पूर्ति के लिए कहाँ तक कोई क़दम उठायेगी। उन्होंने कहा कि कहने को तो 1947 में देश आज़ाद हो गया लेकिन यह एक कोरा झूठ है। ग़ैरबराबरी, ग़रीबी, भूख-प्यास, बेरोज़गारी, स्वास्थ्य सुविधाओं का अकाल, अशिक्षा बस यही दिया है इस आज़ादी ने। इसलिए जनता की आज़ादी आनी अभी बाक़ी है। उन्होंने कहा कि इतिहास गवाह है कि जब-जब भी मेहनतकश जनता के संघर्षों का तूफ़ान उठा है नौजवान उनकी अगली कतारों में लड़े हैं और आने वाला समय भी इसी बात की गवाही देगा।

मोल्डर एण्ड स्टील वर्कर्ज़ यूनियन के प्रधान विजय नारायण ने कहा कि अब समय आ गया है कि जनता को उठ खड़ा होना होगा और इन जालिम हुक्मरानों से हक़-सच की आर-पार की लड़ाई लड़ने के लिए आगे आना होगा। डेमोक्रेटिक टीचर्स फ्रन्ट के टेक चन्द कालिया ने कहा कि भारत के कोने-कोने में जनता हुक्मरानों की नाइन्साफ़ियों के ख़िलाफ़ लड़ रही है। जनता नारों से लेकर हथियारों तक के जरिए लड़ाई लड़ रही है। उन्होंने कहा हमें हर तरह की लड़ाई से प्रेरणा लेते हुए आगे बढ़ना होगा। डेमोक्रेटिक इम्पलाईज़ फ्रन्ट के रमनजीत ने धरनाकारियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि मँहगाई हो या बिजली कटौती का मुद्दा सरकार जनता की भलाई के लिए खुद कोई क़दम नहीं उठाने जा रही है। जनता को अपने हक़ अपनी एकजुटता के दम पर हासिल करने होंगे। इंक़लाबी केन्द्र पंजाब के सचिव कँवलजीत खन्ना ने कहा कि सरकार जनता को मुहैया करवायी जाने वाली हर तरह की सहूलियतों से हाथ पीछे खींचती जा रही है। इसी के अन्तर्गत न तो ग़रीब जनता को सस्ता अनाज मुहैया करवाया जा रहा है और न ही उसकी बिजली की ज़रूरत पूरी की जा रही है। उन्होंने कहा कि महँगाई और बिजली की कमी स्पष्ट तौर पर पूँजीवादी सरकारों की नीतियों का नतीजा है। लोक मोर्चा पंजाब की लुधियाना इकाई के सचिव कस्तूरी लाल ने कहा कि सरकार विदेशी लुटेरों के हाथों देश को बेच रही है और जनता को भयंकर तंगी बदहाली में धकेल रही है। उन्होंने प्रश्न किया कि आज जब सरकार ग़रीब मज़दूरों से दाल की एक कटोरी भी छीन लेने पर उतारू हो रही हो तो वे क्यों न इस सरकार का तख़्ता पलटने के लिए तैयारी करें?

इनके अलावा ग्रामीण मज़दूर यूनियन (मशाल) के बलदेव सिंह, इंक़लाबी केन्द्र पंजाब के मास्टर भजन सिंह, डेमोक्रेटिक टीचर्स फ्रन्ट के जसदेव ललतों, लोक मोर्चा पंजाब के मास्टर कुलवन्त तर्क, आदि ने भी धरने को सम्बोधित किया। सभी वक्ताओं ने चेतावनी दी कि अगर सरकार ने जनता को महँगाई और बिजली कटौती से राहत दिलाने के लिए शीघ्र क़दम न उठाये तो ग़रीबों के दिलों के भीतर सुलग रही गुस्से की चिन्गारी को शोला बनते देर नहीं लगेगी। **– बिगुल संवाददाता**

टोरण्टो के मज़दूरों की शानदार जीत

सारी दुनिया की तरह ही कनाडा में भी वहाँ की सरकार नवउदारवादी नीतियाँ लागू कर रही है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद मज़दूरों ने संघर्ष और कुरबानियाँ देकर जो हक़ हासिल किये थे, कनाडा सरकार वे सारे हक़ उनसे छीन लेना चाहती है और उन्हें मुनाफ़ाख़ोर भूखे भेड़ियों के आगे परोस देना चाहती है। निजी क्षेत्र के मज़दूरों के हक़ तो व्यावहारिक तौर पर काफ़ी हद तक छीने जा चुके हैं। सरकार पब्लिक सेक्टर के मज़दूरों के हक़ों पर भी डाका डालने की ज़ोरदार कोशिशें कर रही है। 2008 के आख़िरी महीनों में शुरू हुई विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी की लपेट में कनाडा भी आया। जहाँ निजी कम्पनियों ने तो मज़दूरों की छँटनी की और उनके वेतनों और अन्य सुविधाओं पर कटौती की, वहाँ सरकार ने भी पब्लिक सेक्टर के मज़दूरों की कमाई पर डाका डालने के लिए मन्दी को बहाना बनाया। मन्दी का बहाना बनाकर पब्लिक सेक्टर के मज़दूरों से 'सहयोग' करने के लिए कहा गया। यानी पूँजीपतियों और उनकी सरकार की करतूतों से जन्मे संकट का ख़ामियाज़ा मज़दूरों को भुगतने के लिए कहा गया। उनके वेतन और अन्य सुविधाओं पर कटौती करनी की कोशिशें की गयीं। लेकिन मज़दूरों ने यह नाइन्साफ़ी सहने से इनकार कर दिया। जहाँ-जहाँ भी सरकार ने मज़दूरों के हक़ छीनने की कोशिश की वहाँ-वहाँ मज़दूरों का संघर्ष सुलग उठा।

कनाडा के मज़दूरों द्वारा एक शानदार संघर्ष टोरण्टो शहर में लड़ा गया। वहाँ 24,000 मज़दूरों ने 22 जून से 31 जुलाई तक 39 दिन की लम्बी हड़ताल की। इस हड़ताल में सफ़ाई मज़दूरों सहित जनस्वास्थ्य, वृद्ध आश्रमों, पार्कों, जंक्शनों, सामाजिक सेवाओं, पुस्तकालयों के साथ-साथ आवास, क़ानूनी सेवाओं, सड़क मेंटेनेंस, बर्फ़ हटाने वाले, जानवरों के बचाव तथा अन्य बहुत सारी कम्युनिटी सेवाओं में शामिल मज़दूर शामिल थे। ये मज़दूर दो मज़दूर यूनियनों के झण्डे तले हड़ताल में शामिल हुए। 18,000 इनडोर मज़दूर ***सी.यू.पी.ई. (कनाडियन यूनियन ऑफ पब्लिक इम्पलाईज़) लोकल 79*** के नेतृत्व में और 6,200 आउटडोर मज़दूर ***सी.यू.पी.ई. (कनाडियन यूनियन ऑफ पब्लिक इम्पलाईज़) लोकल 416*** के नेतृत्व में हड़ताल में शामिल हुए।

मज़दूरों ने खुशी से यह हड़ताल नहीं की थी। बल्कि उन्हें प्रशासन की धक्केशाही ने ऐसा करने पर मजबूर कर दिया था। मज़दूर लम्बे समय से प्रशासन से वेतन में बढ़ोत्तरी तथा अन्य सुविधाओं की माँग कर रहे थे। शहर की पुलिस, अग्निशामक कर्मी, हाइड्रो मजदूरों, टोरण्टो आवास कार्पोरेशन, टोरण्टो पोर्ट ऑथोरिटी, आदि कर्मियों के वेतन में जिस हिसाब से बढ़ोत्तरी की गयी थी यह मज़दूर भी वही माँग रहे थे। वे वेतन और अन्य सुविधाओं में 3 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी की माँग कर रहे थे। लेकिन प्रशासन ने उनकी माँगों की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया। मज़दूरों को कहा जा रहा था कि जब पूरे देश में निजी कम्पनियों के मज़दूरों के वेतनों में कटौती हो रही है तब उनका वेतन कैसे बढ़ाया जा सकता है। लेकिन जब मज़दूरों को यह बात कही जा रही थी उसी वक़्त ऊँचे पदों पर नोटों की बरसात की जा रही थी। उनके वेतन और अन्य लाभों में भारी बढ़ोत्तरी हो रही थी। इसी समय में टोरण्टो शहर के काउंसलरों का वेतन 96,805 डॉलर से बढ़ाकर 99,153 डॉलर कर दिया गया था। मज़दूरों द्वारा पहले से रखी गयीं माँगें मानना तो एक तरफ़ रहा बल्कि प्रशासन ने मन्दी का बहाना बनाकर मज़दूरों को पहले से प्राप्त हक़ भी छीनने की तैयारी कर ली थी। नौकरी की सुरक्षा के मदों को कमज़ोर किया जा रहा था अर्थात उन्हें जब चाहे नौकरी से निकाल देने के नियम बनाने की तैयारी हो रही थी। उनके वरिष्ठता अधिकारों पर हमला किया जा रहा था। छुट्टी और कार्यस्थान से बदली के अधिकारों को सीमित करने की कोशिश की गयी। एक बड़ा हमला बीमारी की छुट्टियों को जमा करने हक़ पर किया जा रहा था। और भी बहुत सारे अधिकार छीने जाने की तैयारी हो रही थी।

अपने अधिकारों को बचाने के लिए मज़दूरों के पास हड़ताल के सिवा और कोई रास्ता नहीं बचा था। दोनों यूनियनों के 90 प्रतिशत सदस्यों ने हड़ताल करने के पक्ष में वोट दिये। इन 24,000 मज़दूरों की हड़ताल ने पूरे टोरण्टो शहर को हिलाकर रख दिया। सारा शहर जाम हो गया। पार्कों में कूड़े के ढेर लग गये। चारों तरफ़ बदबू ही बदबू थी। प्रशासन ने इस सब को लेकर मज़दूरों के ख़िलाफ़ प्रचार भी किया। लेकिन मज़दूर डटे रहे। टोरण्टो प्रशासन को झुकना पड़ा और समझौते के लिए तैयार होना पड़ा।

समझौते के अनुसार मज़दूरों को तीन वर्ष पर 6 प्रतिशत वेतन बढ़ोत्तरी का हक़ हासिल हुआ। शिफ़्टों के लिए अलग से मिलने वाली रकमों में सुधार हासिल हुआ। मज़दूरों से उनकी बीमारी की छुट्टियों को जमा करने के हक़ को छीना जा रहा था। प्रशासन ने यह फ़ैसला वापिस ले लिया। शिकायत दर्ज करवाने के मज़दूरों के हक़ को सीमित करने, रिटायरमेण्ट के बाद मिलने वाले लाभों, बदलियों और वरिष्ठता आदि पर की जा रही कटौती करने के फ़ैसले वापस ले लिए गये। इस प्रकार टोरण्टो के मज़दूरों ने सिर्फ़ टोरण्टो प्रशासन को झुकने के लिए ही मज़बूर नहीं किया बल्कि अन्य मज़दूरों को भी लड़कर अपने हक़ हासिल करने के लिए हौसला प्रदान किया।

– लखविन्दर

'शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान'

(पेज 12 से आगे)

इसके बाद पूरे देश से अभियान के समर्थन में लाखों की संख्या में हस्ताक्षर जुटाकर माँगपत्रक के साथ प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह और संसद को सौंपे जायेंगे। **इस अभियान के तहत सरकार को एक माँगपत्रक पेश किया जाएगा जिसकी माँगें इस प्रकार हैं:**

1. नरेगा की तर्ज़ पर शहरी बेरोज़गारों और ग़रीबों के लिए शहरी रोज़गार गारण्टी योजना बनायी और लागू की जाये।

2. इस योजना के तहत शहरी बेरोज़गारों को साल में कम से कम 200 दिनों का रोज़गार दिया जाये।

3. इस योजना में मिलने वाले काम पर न्यूनतम मज़दूरी के मानकों के अनुसार भुगतान किया जाय।

4. इस योजना के तहत रोज़गार न दे पाने की सूरत में बेरोज़गारी भत्ता दिया जाये जो जीविकोपार्जन के न्यूनतम स्तर को क़ायम रख पाने के लिए पर्याप्त हो।

5. इस योजना को पूरे भारत में लागू किया जाय।

नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन आने वाले 6 माह में लाखों हस्ताक्षरों के साथ यह पाँच सूत्री माँगपत्रक देश की केन्द्रीय सरकार और सभी राज्यों की सरकारों को देंगे। दिल्ली में एक विशाल जन मार्च के साथ ये हस्ताक्षर सौंपे जायेंगे। यदि सरकार इस योजना को बनाने के लिए त्वरित कदम नहीं उठाती तो इस पूरे अभियान को एक जुझारू आन्दोलन की शक्ल दी जाएगी।

– बिगुल संवाददाता

जजों की सम्पत्ति सार्वजनिक करने या न करने के बारे में

परदे में रहने दो, परदा ना उठाओ...

आजकल यू.पी.ए. सरकार न्यायाधीशों को उनकी सम्पत्ति सार्वजनिक करने से छूट देने वाले विधेयक को सदन में पारित कराने की जी-तोड़ कोशिश में लगी हुई है। हालाँकि विपक्ष के विरोध के कारण यह विधेयक पारित नहीं हो पा रहा है। लेकिन देर-सवेर तो यह होकर ही रहेगा।

दरअसल कभी-कभी जब जनता को लुभाने और भरमाने के लिए की जाने वाली कवायदें अनजाने ही उन सीमाओं को लाँघ जाती हैं जो व्यवस्था के लिए संकट पैदा कर सकती हैं तो ऐसी कवायदों पर लगाम लगाना व्यवस्था के पैरोकारों के लिए ज़रूरी हो जाता है।

जजों की सम्पत्ति सार्वजनिक करने से छूट देने वाले जिस विधेयक को लेकर चिल्लपों मची है, उसमें कहा गया है कि किसी सक्षम अधिकारी के समक्ष किसी न्यायाधीश की घोषित सम्पत्ति का ब्योरा सार्वजनिक नहीं किया जायेगा। इस पर कोई नागरिक अदालत या प्राधिकार सवाल नहीं उठा सकेगा।

विधेयक में कहा गया है कि न्यायाधीशों, उनकी पत्नी और निर्भर बच्चों की सम्पत्ति और देनदारी का ब्योरा विधेयक में उल्लेखित चुनिन्दा हालात के तहत ही किया जा सकेगा।

इस विधेयक में प्रावधान किया गया है कि सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश अपनी सम्पत्ति का ब्योरा देश के प्रधान न्यायाधीश को देंगे, विभिन्न हाईकोर्टों के न्यायाधीश सम्बन्धित मुख्य न्यायाधीशों को सम्पत्ति का ब्योरा देंगे, लेकिन इन ब्योरों को जनता के सामने सार्वजनिक नहीं किया जा सकेगा।

सरकार द्वारा पेश किया गया यह विधेयक विपक्ष के विरोध के कारण पिट गया और मीडिया के माध्यम से इस मुद्दे ने काफ़ी तूल पकड़ लिया। इस बीच जलती हुई आग में घी डालते हुए कर्नाटक के एक जज ने अपनी सम्पत्ति सार्वजनिक रूप से घोषित कर दी। इस पर मुख्य न्यायाधीश को काफ़ी तकलीफ़ हुई और उन्होंने कर्नाटक के जज पर यह आरोप लगा दिया कि उसने पब्लिसिटी के लिए ऐसा किया है। इन घटनाओं ने जजों के बीच इसे वाद-विवाद का मुद्दा बना दिया। बाद में सुप्रीम कोर्ट के जजों के बीच यह सहमति बनी कि वे अपनी मर्जी से अपनी सम्पत्ति का ब्योरा सार्वजनिक कर सकते हैं, लेकिन वे इसके लिए किसी भी प्रकार से बाध्य नहीं होंगे। विभिन्न हाईकोर्टों के जज इस मुद्दे पर सहमत नहीं थे। जज स्वेच्छा से तो अपनी सम्पत्ति के ब्योरे सार्वजनिक कर सकते हैं लेकिन आम लोग इसे सार्वजनिक करवा सकें और कोई जाँच-पड़ताल हो सके, इसका कोई प्रावधान नहीं है।

अपनी पिछली पारी में यू.पी.ए. सरकार ने व्यवस्था को पारदर्शी बनाने का ढोंग करते हुए सूचना का अधिकार क़ानून बनाया था, तब उसने सोचा भी न होगा कि एक दिन यही क़ानून उसके गले की फ़ाँस बन जायेगा। आम लोगों को भी लगने लगा था कि अब तो नौकरशाही की नकेल बँधके रहेगी। हर चीज़ की जानकारी आसानी से मिल जायेगी।

हालाँकि इस (सूचना अधिकार) क़ानून के अपने बहुत से बचाव के रास्ते (लूप होल्स) थे कि क्या आप जान सकते हैं, क्या नहीं। कितना जान सकते हैं, कितना नहीं। उसकी सीमाएँ भी थीं, लेकिन फिर भी कुछ हद तक लोगों को इसका फ़ायदा मिला। बहुत से विभागों की सूचनाएँ लोगों ने इस क़ानून के तहत हासिल कीं, लेकिन न्याय व्यवस्था अब इस क़ानून के दायरे में आने को तैयार नहीं। और सरकार भी नहीं चाहती कि न्यायपालिका इस क़ानून के तहत आये।

ग़ौरतलब है कि दिल्ली के एक नागरिक ने सूचना क़ानून के तहत यह जानकारी इकट्ठा की कि पिछले 2 सालों में सुप्रीम कोर्ट के जजों ने 1.4 करोड़ रुपये सिर्फ़ विदेश-यात्राओं पर ख़र्च किये। उसने जब जजों के होटल में ठहरने, यात्रा भत्तों और रोज़मर्रो के ख़र्चों की जानकारी चाही तो क़ानून और न्याय मन्त्रालय ने इसे देने से इन्क़ार कर दिया।

अब सोचने की बात यह है कि आख़िर क्यों सरकार न्याय व्यवस्था को सूचना के अधिकार के क़ानून के दायरे के बाहर रखना चाहती है?

बात एकदम शीशे की तरह साफ़ नज़र आती है कि आज जब व्यवस्था के सारे अंग एकदम खोखले हो चुके हैं। उसकी सारी गलाजत और नीचता एकदम खुले तौर पर जनता के सामने आ चुकी है। पुलिस, प्रशासन, सरकार, नौकरशाही के सारे भ्रष्टाचार सतह पर उभरकर आ गये हैं, तो व्यवस्था का कोई अंग तो ऐसा होना चाहिए जिस पर जनता भरोसा कर सके। इसीलिए न्याय व्यवस्था को सरकार इन सभी चीज़ों से अलग बचाये रखना चाहती है।

पूँजीवादी शोषक व्यवस्था के सभी अंगों की तरह यहाँ की न्याय व्यवस्था भी पूरी तरह भ्रष्टाचार में लिप्त है। अदालतों में न्याय बिकता है, गवाह बिकते हैं, वकील बिकते हैं और जज भी बिकते हैं। हाईकोर्टों और सुप्रीम कोर्ट के वकील जिनकी "प्रैक्टिस" ठीक-ठाक चलती है, वे करोड़पति बन चुके हैं। ऐसे में जजों की सम्पत्ति का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। अगर हाईकोर्टों और सुप्रीम कोर्ट के जजों की अकूत सम्पत्ति के ब्योरे जनता के सामने आयेंगे तो निश्चय ही सवाल उठेगा कि उनके पास इतना धन कहाँ से आया? और इसका जवाब पाना आम जनता के लिए मुश्किल नहीं होगा। इसीलिए सरकार न्याय व्यवस्था की गन्दगी को परदे में ढँकना चाहती है।

चूँकि न्याय व्यवस्था कभी-कभी जनता को भी न्याय दिला देती है। कुछेक मामलों में किसी एक नेता-मन्त्री तथा नौकरशाहों को भी सजाएँ सुनाकर यह व्यवस्था अपने कुछेक सड़े-गले अंगों को काटकर जनता की नज़रों में पाक-साफ़ बनने की कोशिश करती है तो लोगों को लगता है कि न्याय व्यवस्था निष्पक्ष है। वह किसी के साथ ग़ैर-बराबरी नहीं करती, उसकी नज़र में सभी एकसमान हैं। और अब अगर न्याय व्यवस्था की कलई भी जनता के सामने खुलने लगेगी तो इस शोषक पूँजीवादी व्यवस्था का अन्जाम क्या होगा? यही डर सरकार और पूँजीपतियों को सताता रहता है, जिसकी वजह से न्यायालय की निष्पक्षता की कवायद होती रहती है।

● **नमिता**

पिछले पाँच सालों में सुप्रीम कोर्ट के जजों द्वारा सेमिनारों-कान्फ्रेंसों के लिए की गयी हवाई यात्राओं का विवरण :

अप्रैल 03 से मार्च 04 तक	**28,00923 रुपये**
अप्रैल 04 से मार्च 05 तक	**17,02425 रुपये**
अप्रैल 05 से मार्च 06 तक	**34,95249 रुपये**
अप्रैल 06 से मार्च 07 तक	**68,82476 रुपये**
अप्रैल 07 से मार्च 08 तक	**70,47109 रुपये**
कुल	**2,19,28182 रुपये**

पंजाब में भी जनता बदहाल, नेता मालामाल

विधायकों-मन्त्रियों के वेतन-भत्तों में भारी बढ़ोत्तरी की तैयारी

पंजाब सरकार खजाना खाली होने की दुहाई दे रही है और जनता पर तरह-तरह के टैक्स लगाने की तैयारी कर रही है। वहीं पंजाब विधानसभा के विधायकों के वेतन, भत्तों तथा अन्य सुविधायों में बढ़ोत्तरी की तैयारी की जा रही। सभी पार्टियाँ आपस में चाहे जितना भी लड़ें-झगड़ें, लेकिन इस मुद्दे पर सब एक हैं। 11 जुलाई को जब पंजाब विधानसभा में विधायकों के वेतन, भत्ते तथा अन्य सहूलियतों को बढ़ाने का प्रस्ताव रखने वाली रिपोर्ट पेश की गयी तो एक भी पार्टी या विधायक ने विरोध नहीं किया। रिपोर्ट में मुख्यमन्त्री, मन्त्रियों, डिप्टी मन्त्रियों, विरोधी पक्ष की नेता, मुख्य संसदीय सचिवों, स्पीकर और डिप्टी स्पीकर के वेतनों और भत्तों में भी बढ़ोत्तरी करने की सिफ़ारिश की गई है।

इस रिपोर्ट के अनुसार हर विधायक को मौजूदा तनख़्वाहों और सहूलियतों के मुकाबले डेढ़ गुना अधिक सहूलियतें और पैसा मिलेगा। हर विधायक का वेतन 4000 से बढ़ाकर 10,000 रुपये करने का प्रस्ताव है। दैनिक भत्ता 500 की जगह 1000 रुपये हो जायेगा। इलाका भत्ता 8000 से बढ़ाकर 15,000 रुपये महीना करने की सिफ़ारिश की गई है। गाड़ी के लिए प्रति किलोमीटर 6 रुपये की जगह 12 रुपये खर्चा मिला करेगा। पहले मकान खरीदने के लिये विधायक को 10 लाख तक का कर्ज मिलता है वह 40 लाख कर दिया जायेगा। कार के लिए 6 लाख तक का कर्ज मिलता है वह 10 लाख कर दिया जायेगा। इन सब के अलावा कार, रेल में सफ़र करने के लिए 440 लीटर प्रति महीना डीजल और 290 लीटर प्रति महीना पेट्रोल मिलता है। यह अब तय की गई दूरी के हिसाब से मिला करेगा। इन सबके अलावा और भी बहुत सारी सहूलतें विधायकों, मन्त्रियों आदि को देने की तैयारी ज़ोर-शोर से चल रही है। बिल बनने के बाद जनता को निचोड़ कर जमा होने वाले धन का बँटवारा शुरू हो जायेगा। हर विधायक को 40,000 रुपये का मासिक फ़ायदा होगा।

यह रिपोर्ट पेश होने के बाद मन्त्रियों ने आवाज़ उठानी शुरू कर दी कि उनके वेतन में की जा रही यह बढ़ोत्तरी उन्हें मंजूर नहीं। वे आईपीएस, आईएएस अधिकारियों के बराबर लाखों में महीनावार वेतन चाहते हैं। मन्त्रियों की माँग पर भी विचार होना शुरू हो चुका है। मन्त्रियों के वेतन में इस प्रकार की बढ़ोत्तरी मौजूदा राजनीतिक व्यवस्था में पूरी तरह सम्भव है। उनके वेतन में इस तरह की बढ़ोत्तरी होने पर कोई हैरानी वाली बात नहीं होगी।

पंजाब की जनता भयंकर ग़रीबी झेल रही है। मज़दूर हाड़तोड़ मेहनत से भी परिवार का खर्च नहीं चला पा रहे हैं। नौजवान रोजगार के लिए दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। बच्चे शिक्षा से वंचित हैं। पंजाब में लाखों लोग झुग्गी-झोपड़ियों में, सड़कों के किनारे, पुलों के नीचे दिन काट रहे हैं। लोग बिना इलाज के दम तोड़ रहे हैं। इस सबके साथ-साथ आसमान छू रही क़ीमतें कहर बरपा कर रही हैं। आर्थिक तंगी से परेशान होकर आत्महत्याओं का रुझान बढ़ता जा रहा है।

बदहाल जनता के लिए सरकार के पास कुछ नहीं हैं। नाम की स्कीमें चलाई जाती हैं। आटा-दाल स्कीम का खासा ढिंढोरा पीटा गया था। इस स्कीम का लाभ ग़रीब जनता के एक छोटे से हिस्से को मिल रहा है। जब जनता की बात आती है तो ख़ज़ाना खाली होता है लेकिन विधायकों-मन्त्रियों को किसी चीज़ की कमी न रहे इसके लिए कहीं से भी इन्तज़ाम कर लिया जायेगा। सभी जानते हैं कि इन परजीवियों को मिलने वाली सहूलियतों का सारा बोझ जनता पर ही डाला जायेगा। जनता की जेब पर डाका डाल कर ही इनका घर भरा जायेगा।

चुनाव कोई ग़रीब व्यक्ति तो लड़ नहीं सकता। अगर चुनाव में खड़ा भी हो जाये तो जीत नहीं सकता। पंजाब विधानसभा में करोड़पतियों-अरबपतियों का डेरा है। राजनीति आज सबसे अधिक मुनाफ़े वाला धन्धा बन चुकी है। ये सभी वोट-बटोरू नेता चुनावों के दौरान चन्दे के रूप में पूँजीपतियों से भी पैसा बटोरते हैं और बदले में उनकी खूब सेवा करते हैं। इनमें से अनेकों तो खुद भी उद्योगपति हैं, सैकड़ों-हजारों एकड़ जमीन के मालिक हैं, ट्रांसपोर्टर हैं, बड़े-बड़े बिजनसमैन हैं। सत्ता में आने के बाद ये विकास कार्यों के लिए मिलने वाले धन में बड़े-बड़े हिस्से भी डकार जाते हैं। घूस से ये लोग बेहद कमाई करते हैं। यह बातें खासतौर पर इसलिए इंगित की जा रही है क्योंकि कोई विधायकों का वेतन सिर्फ़ 4,000 रूपये होने के कारण उनसे हमदर्दी रखते हुए यह कह सकता है कि वेतन बढ़ाया जाना जायज़ है। असल में सरकार से मिलने वाला वेतन-भत्ता तो बहुत मामूली है। उनकी असल कमाई तो अन्य रास्तों से होती है जिसका ऊपर ज़िक्र किया जा चुका है। लेकिन उनका पेट इससे भी नहीं भरता। उनकी भूख की कोई सीमा नहीं है। हालांकि इन्हें सरकार की तरफ़ से पहले भी अच्छी-खासी सहूलियतें मिलती है लेकिन वे तो सरकारी ख़ज़ाने से जनता की गाढ़ी कमाई का और भी बड़ा हिस्सा चाहते हैं।

विधायकों-मन्त्रियों के वेतन-भत्तों आदि में भारी बढ़ोत्तरी करने की इस प्रक्रिया से एक बार फिर भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की पोल खुलती जा रही है। तरह-तरह के हथकण्डे अपनाकर जनता की के वोट हासिल करके कुर्सी पर बैठने के बाद यहाँ कोई जनता की सेवा नहीं करता। जनता की बदहाली दूर करने के लिए इनमें से कोई नेता चिन्तित नहीं है। इन्हें चिन्ता होती है तो बस यही कि वे कैसे जनता को अधिक से अधिक लूट-खसोटकर अपनी तिज़ोरियाँ भरें।

लखविन्दर

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें? (चौथी किश्त)

● अभिनव

अब तक हमने फ़ासीवाद के उदय की आम पृष्ठभूमि और आर्थिक-सामाजिक स्थितियों के बारे में पढ़ा और साथ ही जिन दो देशों में फ़ासीवाद के क्लासिकीय विनाशकारी प्रयोग हुए उनके बारे में भी जाना, यानी, जर्मनी और इटली। इस बार हम भारत में फ़ासीवादी उभार के इतिहास, पृष्ठभूमि, विशेषताओं और उसके वर्तमान हालात के बारे में पढ़ेंगे।

भारत में फ़ासीवाद जर्मनी या इटली की तरह कभी सत्ता में नहीं आया। हालाँकि भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में एक गठबन्धन सरकार भारत में क़रीब 6 वर्षों तक रही लेकिन वह हिटलर या मुसोलिनी के सत्ता में आने से बिल्कुल भिन्न था। इसके अतिरिक्त, भाजपा ने अपने बूते सरकार नहीं बनायी थी। वह एक गठबन्धन सरकार थी जिसके अपने आन्तरिक खिंचाव और तनाव थे, जिनके कारण भाजपा अपने फ़ासीवादी एजेण्डे को खुलकर लागू नहीं कर सकती थी। लेकिन जितना भाजपा ने एक गठबन्धन सरकार के रहते किया उतने से ही साफ़ हो गया था कि अगर वह पूर्ण बहुमत के साथ सत्ता में आती तो क्या करती। जर्मनी या इटली की तरह फ़ासीवाद भारत में कभी सत्ता में नहीं आया लेकिन यह एक बड़ी ताक़त के रूप में, जो समाज के पोर-पोर में पैठी हुई है, भारत में लम्बे समय से मौजूद रहा है। सबसे पहले राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में कुछ बुनियादी जानकारियाँ साझा कर लेना उपयोगी होगा। उसके बाद हम भारत में फ़ासीवाद के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उत्स के बारे में भी चर्चा करेंगे।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : भारतीय फ़ासीवादियों की असली जन्मकुण्डली

भारत में फ़ासीवाद का इतिहास लगभग उतना ही पुराना है जितना कि जर्मनी और इटली में। जर्मनी और इटली में फ़ासीवादी पार्टियाँ 1910 के दशक के अन्त या 1920 के दशक की शुरुआत में बनीं। भारत में **राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ** की स्थापना 1925 में नागपुर में विजयदशमी के दिन हुई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक थे **केशव बलिराम हेडगेवार**। हेडगेवार जिस व्यक्ति के प्रभाव में फ़ासीवादी विचारों के सम्पर्क में आये थे वह था **मुंजे**। मुंजे 1931 में इटली गया था और वहाँ उसने मुसोलिनी से भी मुलाक़ात की थी। 1924 से 1935 के बीच आर.एस.एस. से क़रीबी रखने वाले अख़बार **'केसरी'** ने मुसोलिनी और उसकी फ़ासीवादी सत्ता की प्रशंसा में लगातार लेख छापे। मुंजे ने हेडगेवार को मुसोलिनी द्वारा युवाओं के दिमाग़ों में ज़हर घोलकर उन्हें फ़ासीवादी संगठन में शामिल करने के तौर-तरीक़ों के बारे में बताया। हेडगेवार ने उन तौर-तरीक़ों का इस्तेमाल उसी समय से शुरू कर दिया और आर.एस.एस. आज भी उन्हीं तरीक़ों का इस्तेमाल करती है। 1930 के दशक के अन्त तक भारतीय फ़ासीवादियों ने बम्बई में उपस्थित इतालवी कांसुलेट से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया। वहाँ मौजूद इतालवी फ़ासीवादियों ने हिन्दू फ़ासीवादियों से सम्पर्क क़ायम रखा।

लगभग इसी समय एक अन्य हिन्दू कट्टरपन्थी **विनायक दामोदर सावरकर**, जिनके बड़े भाई राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापकों में से एक थे, ने जर्मनी के नात्सियों से सम्पर्क स्थापित किया। सावरकर ने जर्मनी में हिटलर द्वारा यहूदियों के सफाये को सही ठहराया और भारत में मुसलमानों की "समस्या" के समाधान का भी यही रास्ता सुझाया। जर्मनी में 'यहूदी प्रश्न' का 'अन्तिम समाधान' सावरकर के लिए एक मॉडल था। सावरकर के लिए नात्सी राष्ट्रवादी थे जबकि यहूदी राष्ट्र-विरोधी और साम्प्रदायिक। **लेनिन ने बहुत पहले ही आगाह किया था कि नस्लवादी अन्धराष्ट्रवादी पागलपन अक्सर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चोला पहनकर आ सकता है।** भारत में हिन्दू साम्प्रदायिक अन्धराष्ट्रवाद भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का जामा पहनकर ही सामने आ रहा था।

आर.एस.एस. ने भी खुले तौर पर जर्मनी में नात्सियों द्वारा यहूदियों के कत्ले-आम का समर्थन किया। हेडगेवार ने मृत्यु से पहले गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। गोलवलकर ने अपनी पुस्तक **'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड'** और बाद में प्रकाशित हुई **'बंच ऑफ़ थॉट्स'** में जर्मनी में नात्सियों द्वारा उठाये गये क़दमों का अनुमोदन किया था। गोलवलकर आर.एस.एस. के लोगों के लिए सर्वाधिक पूजनीय सरसंघचालक थे। उन्हें आदर से संघ के लोग 'गुरुजी' कहते थे। गोलवलकर ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में मेडिकल की पढ़ाई की और उसके बाद कुछ समय के लिए वहाँ पढ़ाया भी। इसी समय उन्हें 'गुरुजी' नाम मिला। हेडगेवार के कहने पर गोलवलकर ने संघ की सदस्यता ली और कुछ समय तक संघ में काम किया। अपने धार्मिक रुझान के कारण गोलवलकर कुछ समय के लिए आर.एस.एस. से चले गये और किसी गुरु के मातहत संन्यास रखा। इसके बाद 1939 के क़रीब गोलवलकर फिर से आर.एस.एस. में वापस आये। इस समय तक हेडगेवार अपनी मृत्युशैया पर थे और उन्होंने गोलवलकर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। 1940 से लेकर 1973 तक गोलवलकर आर.एस.एस. के सुप्रीमो रहे।

गोलवलकर के नेतृत्व में ही आर.एस.एस. के वे सभी संगठन अस्तित्व में आये जिन्हें आज हम जानते हैं। आर.एस.एस. ने इसी दौरान अपने स्कूलों का नेटवर्क देश भर में फैलाया। संघ की शाखाएँ भी बड़े पैमाने पर इसी दौरान पूरे देश में फैलीं। विश्व हिन्दू परिषद जैसे आर.एस.एस. के आनुषंगिक संगठन इसी दौरान बने। गोलवलकर ने ही आर.एस.एस. की फ़ासीवादी विचारधारा को एक सुव्यवस्थित रूप दिया और उनके नेतृत्व में ही आर.एस.एस. की पहुँच महाराष्ट्र के ब्राह्मणों से बाहर तक गयी। आर.एस.एस. सही मायनों में एक अखिल भारतीय संगठन गोलवलकर के नेतृत्व में ही बना। यही कारण है कि गोलवलकर आज भी संघ के लोगों में सबसे आदरणीय माने जाते हैं और अभी दो वर्ष पहले ही संघियों ने देश भर में उनकी जन्मशताब्दी मनायी थी।

आर.एस.एस. ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ किसी भी स्वतन्त्रता संघर्ष में हिस्सा नहीं लिया। संघ हमेशा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ तालमेल करने के लिए तैयार था। उनका निशाना शुरू से ही मुसलमान, कम्युनिस्ट और ईसाई थे। लेकिन ब्रिटिश शासक कभी भी उनके निशाने पर नहीं थे। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के दौरान संघ देशव्यापी उथल-पुथल में शामिल नहीं हुआ था। उल्टे जगह-जगह उसने इस आन्दोलन का बहिष्कार किया और अंग्रेज़ों का साथ दिया था। श्यामाप्रसाद मुखर्जी द्वारा बंगाल में अंग्रेज़ों के पक्ष में खुलकर बोलना इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण था। ग़लती से अगर कोई संघ का व्यक्ति अंग्रेज़ों द्वारा पकड़ा गया या गिरफ़्तार किया गया तो हर बार उसने माफ़ीनामा लिखते हुए ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी वफ़ादारी को दोहराया और हमेशा वफ़ादार रहने का वायदा किया। स्वयं पूर्व प्रधानमन्त्री अटलबिहारी वाजपेयी ने भी यह काम किया। ऐसे संघियों की फ़ेहरिस्त काफ़ी लम्बी है जो माफ़ीनामे लिख-लिखकर ब्रिटिश जेलों से बाहर आये और जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम सेनानियों के ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों से मुख़बिरी करने का घिनौना काम तक किया। ब्रिटिश उपनिवेशवादी राज्य ने भी इसी वफ़ादारी का बदला चुकाया और हिन्दु साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों को कभी भी निशाना नहीं बनाया। संघ आज राष्ट्रवादी होने का चाहे जितना गुण गा ले वह स्वतन्त्रता आन्दोलन में शामिल न होने और अंग्रेज़ों का साथ देने का दाग़ अपने दामन से कभी नहीं मिटा सकता है। इतिहास को फिर से लिखने के संघ के प्रयासों के पीछे का मुख्य कारण यही है। वे अपने ही इतिहास से डरते हैं। वे जानते हैं कि उनका इतिहास ग़द्दारियों और कायरताओं का एक काला इतिहास रहा है। हिंसा से उनको बहुत प्रेम है, लेकिन झुण्ड में पौरुष प्रदर्शन वाली हिंसा से। वे कभी किसी जनान्दोलन में शामिल नहीं हुए और उनमें किसी दमन को झेलने की ताक़त नहीं है। हमेशा सत्ता के साथ नाभिनालबद्ध रहते हुए व्यवस्था के ख़िलाफ़ लड़ने वालों पर कायराना हिंस्र हमले करना इनकी फ़ितरत रही है। चाहे वे मुसलमान रहे हों, ईसाई या फिर कोई भी राजनीतिक विरोधी। बहादुराना संघर्ष से इनका दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं रहा है, कभी नहीं।

संघ का पूरा ढाँचा शुरू से ही फ़ासीवादी रहा था। यह लम्बे समय तक सिर्फ़ पुरुषों के लिए ही खुला था। संघ की महिला शाखा बहुत बाद में बनायी गयी। संघ का पूरा आन्तरिक ढाँचा हिटलर और मुसोलिनी की पार्टियों से हूबहू मेल खाता है। हर सदस्य यह शपथ लेता है कि वह सरसंघचालक के हर आदेश का बिना सवाल किये पालन करेगा। सरसंघचालक सबसे ऊपर होता है और उसके नीचे एक सरकार्यवाह होता है जिसे सरसंघचालक ही नियुक्त करता है। एक केन्द्रीय कार्यकारी मण्डल होता है जिसे स्वयं सरसंघचालक चुनता है। अपना उत्तराधिकारी भी सरसंघचालक चुनता है। यानी पूरी तरह एक 'कमाण्ड स्ट्रक्चर' जिसमें जनवाद की कोई जगह नहीं है। नात्सी और फ़ासीवादी पार्टी का पूरा ढाँचा इसी प्रकार का था। नात्सी पार्टी में 'फ़्यूहरर' के नाम पर शपथ ली जाती थी और फ़ासीवादी पार्टी में 'ड्यूस' के नाम पर शपथ ली जाती थी।

यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि यह हमेशा से सिर्फ़ हिन्दुओं के लिए खुला रहा है। यह खुले तौर पर कहता है कि यह हिन्दुओं के हितों की सेवा करने के लिए है। संघ ने कभी भी निचली जातियों या निचले वर्गों के हिन्दुओं के लिए कोई काम नहीं किया है। इनका समर्थन भी हमेशा से उजड़े टुटपुँजिया पूँजीपति वर्ग, नवधनाढ्यों और लम्पट सर्वहारा के बीच रहा है। संघ के सामाजिक आधार पर हम आगे आयेंगे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भारत में फ़ासीवाद का अपना मौलिक संस्करण तैयार किया। इसकी हिटलर और मुसोलिनी के फ़ासीवाद से काफ़ी समानताएँ थीं और उनसे इन्होंने काफ़ी कुछ सीखा। गोलवलकर अपनी पुस्तक 'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड' में लिखते हैं – *"आज दुनिया की नज़रों में सबसे ज़्यादा जो दूसरा राष्ट्र है, वह है जर्मनी। यह राष्ट्रवाद का बहुत ज्वलन्त उदाहरण है। आधुनिक जर्मनी कर्मरत है तथा जिस कार्य में वह लगा हुआ है, उसे काफ़ी हद तक उसने हासिल भी कर लिया है... पितृभूमि के प्रति जर्मन गर्वबोध, जिसके प्रति उस जाति का परम्परागत लगाव रहा है, सच्ची राष्ट्रीयता का ज़रूरी तत्व है। आज वह राष्ट्रीयता जाग उठी है तथा उसने नये सिरे से विश्वयुद्ध छेड़ने का जोखिम उठाते हुए अपने "पुरखों के क्षेत्र" पर एकजुट, अतुलनीय, विवादहीन, जर्मन साम्राज्य की स्थापना करने की ठान ली है।..."* (गोलवलकर, 'वी, ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाइण्ड, पृ. 34-35)

गोलवलकर ने इसी पुस्तक में यहूदियों के क़त्लेआम का भरपूर समर्थन किया और इसे भारत के लिए एक सबक़ मानते हुए लिखा – *"...अपनी जाति और संस्कृति की शुद्धता बनाये रखने के लिए जर्मनी ने देश से सामी जातियों – यहूदियों का सफ़ाया करके विश्व को चौंका दिया है। जाति पर गर्वबोध यहाँ अपने सर्वोच्च रूप में व्यक्त हुआ है। जर्मनी ने यह भी बता दिया है कि सारी सदिच्छाओं के बावजूद जिन जातियों और संस्कृतियों के बीच मूलगामी फ़र्क़ हों, उन्हें एक रूप में कभी नहीं मिलाया जा सकता। हिन्दुस्तान में हम लोगों के लाभ के लिए यह एक अच्छा सबक़ है।"* (गोलवलकर, वही, पृ. 35)। हिटलर की इसी सोच को गोलवलकर भारत पर लागू कैसे करते हैं, देखिये : *"...जाति और संस्कृति की प्रशंसा के अलावा मन में कोई और विचार न लाना होगा, अर्थात हिन्दू राष्ट्रीय बन जाना होगा और हिन्दू जाति में मिलकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को गँवा देना होगा, या इस देश में पूरी तरह हिन्दू राष्ट्र की ग़ुलामी करते हुए, बिना कोई माँग किये, बिना किसी प्रकार का विशेषाधिकार माँगे, विशेष व्यवहार की कामना करने की तो उम्मीद ही न करें; यहाँ तक कि बिना नागरिकता के अधिकार के रहना होगा। उनके लिए इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं छोड़ना चाहिए। हम एक प्राचीन राष्ट्र हैं। हमें उन विदेशी जातियों से जो हमारे देश में रह रही हैं उसी प्रकार निपटना चाहिए जैसे कि प्राचीन राष्ट्र विदेशी नस्लों से निपटा करते हैं।"* (गोलवलकर, वही, पृ. 47-48) बात बिल्कुल साफ़ है। मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति संघ के विचार वही हैं जो यहूदियों के प्रति हिटलर के थे।

संघ का राष्ट्र कौन है? हिन्दू, लेकिन सारे हिन्दू नहीं। उच्च जाति के पुरुष हिन्दू। स्त्रियों को हिटलर और मुसोलिनी के समान ही पुरुष का सेवक और स्वस्थ बच्चे पैदा करने के यन्त्र से अधिक और कुछ नहीं माना गया है। दूसरी बात, वे हिन्दू जिनके पास समाज के संसाधनों का मालिकाना है। मज़दूर वर्ग का काम है कि महान प्राचीन हिन्दू राष्ट्र की उन्नति और प्रगति के लिए बिना सवाल उठाये खटते रहें – 12 घण्टे और कभी-कभी तो 14-15 घण्टे तक। इस पर सवाल खड़े करना या श्रमिक अधिकारों की बात करना राष्ट्र-विरोधी माना जाएगा। हर कोई अपना 'कर्म' करे, सवाल नहीं! कर्म आपके जन्म से तय होता है। आप जहाँ जिस घर में, जिस परिवार में जन्मे आपको वैसा ही कर्म करना है। या फिर जैसा आपके राष्ट्र, धर्म और जाति का नेता आपसे कहे! प्रतिरोध, विरोध और प्रश्न राष्ट्रद्रोह है! श्रद्धा-भाव से कर्म कीजिये! मज़दूरों का यही धर्म है कि वे 'राष्ट्र प्रगति' में अपना हाड़-मांस गला डालें! बताने की ज़रूरत नहीं है कि संघ और भाजपा के लिए राष्ट्र का अर्थ है पूँजीपतियों, दुकानदारों, टुटपूँजियों की बिरादरी। जब ये मुनाफ़ाख़ोर तरक़्क़ी करते हैं और मुनाफ़ा कमाते हैं तो ही राष्ट्र तरक़्क़ी करता है। हिटलर और मुसोलिनी ने भी अपने-अपने देशों में मज़दूरों के प्रति यही रुख़ अपनाया था। इन देशों में फ़ासीवादी सत्ताएँ आने के साथ ही ट्रेड यूनियनों को प्रतिबन्धित कर दिया गया था। ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर हिंस्र हमले इटली और जर्मनी में फ़ासीवादियों की गुण्डा फ़ौजों ने तब भी किये जब वे सत्ता में नहीं थे। मुम्बई में ट्रेड यूनियन नेताओं, मज़दूरों और उनकी हड़तालों पर ऐसे ही हमले शिव सेना (जिसका फ़ासीवाद प्रेम जगजाहिर है) ने भी किये थे। देश भर में जगह-जगह बजरंग दल और विहिप के गुण्डों ने समय-समय पर पूँजीपतियों के पक्ष से मज़दूरों, उनके नेताओं और हड़तालों को तोड़ने का काम किया है। जब वे इस किस्म की आतंकवादी कार्रवाइयाँ नहीं कर रहे होते हैं तो वे मज़दूरों की वर्ग एकता को तोड़ने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। मिसाल के तौर पर, मज़दूरों के बीच ऐसे संगठन बनाये जाते हैं जो मज़दूरों की दुर्दशा के लिए पूँजीपति वर्ग को ज़िम्मेदार नहीं ठहराते। पूँजीपतियों से ख़ैरात लेकर और साथ ही मज़दूरों के बीच से पैसे जुटाकर 'फ़ण्ड पूल' बनाये जाते हैं जो मज़दूरों को बेरोज़गारी और भुखमरी की हालत में कुछ पैसे दे देता है।

(पेज 7 पर जारी)

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?

(पेज 6 से आगे)

कई बार ये पैसे सूद पर भी दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, धार्मिक अवसरों पर मज़दूरों के बीच पूजा आदि करवाना, कीर्तन करवाना – ये ऐसे संगठनों का मुख्य काम होता है। साथ ही मज़दूरों के दिमाग़ में यह बात भरी जाती है कि उनके हालात के ज़िम्मेदार अल्पसंख्यक हैं जो उनके रोज़गार आदि के अवसर छीन रहे हैं। इन फ़ासीवादी संगठनों के नेताओं के मुँह से अक्सर ऐसी बात सुनने को मिल जाती है – *"17 करोड़ मुसलमान मतलब 17 करोड़ हिन्दू बेरोज़गार।"* यह बरबस ही फ़्रांस के फ़ासीवादी नेता **मेरी लॉ पेन** के उस कथन की याद दिलाता है जिसमें उसने कहा था – *"दस लाख प्रवासी मतलब दस लाख फ़्रांसीसी बेरोज़गार।"* मज़दूरों के बीच सुधार के कार्य करते हुए ये संघी संगठन मज़दूरों की वर्ग चेतना को भोथरा बनाने का काम करते हैं। वे उन्हें हिन्दू मज़दूर के तौर पर संगठित करने की कोशिश करते हैं। और इस प्रकार वे मज़दूरों की वर्ग एकता को तोड़ते हैं। साथ ही, 'कमेटी' डालने (सूद पर पैसा देने वाली एक संस्था जिसे संघी संगठन मज़दूरों के पैसे से ही बनाते हैं, जो देखने में आपसी सहकार जैसी लगती है) जैसी गतिविधियों के ज़रिये थोड़ी देर के लिए ही सही, मगर पूँजीपति वर्ग से अन्तरविरोधों को तीखा नहीं होने देते। संघ का एक ऐसा ही संगठन है **'सेवा भारती'**। साथ ही संघी ट्रेड यूनियन भारतीय मज़दूर संघ अक्सर मुसोलिनी की तर्ज़ पर औद्योगिक विवादों के निपटारे के लिए 'कारपोरेटवादी' समाधान सुझाती है। इसमें फ़ासीवादी नेतृत्व में एक संघीय निकाय बनाया जाता है जिसमें मज़दूरों और पूँजीपतियों के प्रतिनिधि बैठते हैं। फ़ासीवादी पार्टी विवादों का निपटारा करती है और ऐसा वह हमेशा पूँजीपतियों के पक्ष में अधिक झुकते हुए करती है। या फिर हिटलर की तरह मज़दूरों पर पूर्ण नियन्त्रण के लिए विभिन्न आतंकवादी संगठन बनाने का रास्ता भी आर.एस.एस. हमेशा खोलकर रखता है। बजरंग दल एक ऐसा ही आतंकवादी संगठन है जो हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को असंवैधानिक रास्ते से सड़क पर झुण्ड हिंसा के ज़रिये निपटाने के लिए संघ द्वारा खड़ा किया गया है। यह कम्युनिस्टों, उदारवादियों, साहित्यकारों समेत मज़दूरों और ट्रेड यूनियन प्रतिरोध को गुण्डों और मवालियों के झुण्ड के हिंस्र हमलों द्वारा शान्त करने में यक़ीन करता है। यानी, भारत के फ़ासीवादियों ने जर्मन और इतालवी तरीक़ों का मेल किया है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि फ़ासीवादी हमेशा राष्ट्रवाद की ओट में पूँजीपति वर्ग की सेवा करते हैं। राष्ट्र से उनका मतलब पूँजीपति वर्ग और उच्च मध्यम वर्ग हैं, बाक़ी वर्गों की स्थिति अधीनस्थ होती है और उन्हें उच्च राष्ट्र की सेवा करनी होती है; यही उनका कर्तव्य और दायित्व होता है। प्रतिरोध करने वालों को 'दैहिक और दैविक ताप से पूर्ण मुक्ति' दे दी जाती है। फ़ासीवाद समाज में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए हमेशा ही सड़क पर झुण्डों में की जाने वाली हिंसा का सहारा लेता है। जर्मनी और इटली में भी ऐसा ही हुआ था और भारत में भी संघ ने यही रणनीति अपनायी। संघ के आनुषंगिक संगठन जैसे विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल अक्सर इस तरीक़े को अपनाते हैं। भोपाल में प्रो. सभरवाल की हत्या इसी का एक उदाहरण था।

भारतीय फ़ासीवाद की कार्यपद्धति और उसके उभार का इतिहास

फ़ासीवाद ने भारत में जिस कार्यपद्धति को लागू किया उसकी भी जर्मन और इतालवी फ़ासीवादियों की कार्यपद्धति से काफ़ी समानता रही है। जर्मनी और इटली की तरह यहाँ पर भी फ़ासीवाद ने जिन तौर-तरीक़ों का उपयोग किया, वे थे सड़क पर की जाने वाली झुण्ड हिंसा; पुलिस, नौकरशाही, सेना और मीडिया का फ़ासीवादीकरण; क़ानून और संविधान का खुलेआम मख़ौल उड़ाते हुए अपनी आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देना और इस पर उदारवादी पूँजीवादी नेताओं की चुप्पी; शुरुआत में अल्पसंख्यकों को निशाना बनाना और फिर अपने हमले के दायरे में हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को ले आना; शाखाओं, शिशु मन्दिरों, सांस्कृतिक केन्द्रों और धार्मिक त्योहारों का उपयोग करते हुए **मिथकों को समाज के 'सामान्य बोध' (कॉमन सेंस) के तौर पर स्थापित कर देना** (जैसे, आज उदारवादी हिन्दुओं में भी यह धारणा प्रचलित है कि मुसलमान बहुविवाह करते हैं, ज़्यादा बच्चे पैदा करते हैं, शातिर होते हैं, हिन्दू राष्ट्र को निगल जाना चाहते हैं, गन्दे रहते हैं, आदि-आदि, जिनका सच्चाई से दूर-दूर तक कोई वास्ता नहीं है); झूठा प्रचार : यह दुनिया भर के फ़ासीवादियों की साझा रणनीति रही है; फ़ासीवादी हमले का निशाना संस्थाएँ नहीं बल्कि व्यक्ति हुआ करते हैं और भारत में भी विरोधियों को आतंकित करने की यही नीति फ़ासीवादियों द्वारा अपनायी गयी; अफ़वाहों का कुशलता से इस्तेमाल करना भी भारतीय फ़ासीवादियों की एक प्रमुख निशानी रही है; जर्मनी और इटली की तरह ही एक ही साथ कई बातें बोलना भी भारतीय फ़ासीवादियों ने ख़ूब लागू किया है; उनका एक नर्म चेहरा होता है, एक उग्र चेहरा, एक मध्यवर्ती चेहरा और जब जिस चेहरे की ज़रूरत पड़ती है उसे आगे कर दिया जाता है; भारत में भी संघ का कोई एक स्थायी संविधान नहीं रहा था; ये जब जैसी ज़रूरत वैसा चाल-चेहरा-चरित्र अपनाने के हामी होते हैं। क्योंकि सभी फ़ासीवादी अवसरवादी होते हैं और अपने तात्कालिक राजनीतिक हितों की पूर्ति के लिए वे किसी भी हद तक जा सकते हैं।

ये संघी फ़ासीवादियों की आम कार्यपद्धति रही है। इन तौर-तरीक़ों में से अधिकांश संघियों ने अपने जर्मन और इतालवी पिताओं से ही सीखा है। इन कार्यपद्धतियों के इस्तेमाल के ज़रिये फ़ासीवाद ने भारतीय समाज और जनमानस में जड़ें जमानी शुरू कीं।

आज़ादी के पहले 1890 के दशक और 1900 के दशक में भी हिन्दू और इस्लामी पुनरुत्थानवादियों के कारण हिन्दू-मुस्लिम तनाव पैदा हुए थे। लेकिन उस दौर में राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा किये गये प्रयासों के चलते ये तनाव ज़्यादा तीव्र नहीं हो सके। 1910 के दशक में भी ऐसे तनाव पैदा हुए थे लेकिन 1916 के **लखनऊ समझौते** और **ख़िलाफ़त आन्दोलन** और **असहयोग आन्दोलन** के मिलने से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सौहार्द्र की स्थिति थी और वे अपने साझा दुश्मन के तौर पर अंग्रेज़ी औपनिवेशिक सत्ता को देखते थे। इस दौरान भी **हिन्दू महासभा** नामक एक हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन मौजूद था। लेकिन राष्ट्रवादी आन्दोलन द्वारा बनी साम्प्रदायिक एकता असहयोग आन्दोलन के पहले तक पूरी तरह टूट नहीं सकी, हालाँकि उसमें दरारें आनी शुरू हो गयी थीं। असहयोग आन्दोलन के अचानक वापस लिये जाने के साथ यह एकता टूटनी शुरू हो गयी। यही समय था जब देश में तमाम हिस्सों में हिन्दू पुनरुत्थानवादियों का उभार हो रहा था। सावरकर बन्धुओं का समय यही था। लगभग यही समय था जब बंकिम चन्द्र का उपन्यास 'आनन्दमठ' प्रकाशित हुआ और राष्ट्रवाद के स्वरूप को लेकर एक पूरी बहस देश भर में चल पड़ी। इसमें एक धारा कांग्रेस के राष्ट्रवाद की थी जो पूँजीपति वर्ग के हितों के नेतृत्व में आम जनता को साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लेने की बात करता था। यह समझौतापरस्त था। यह सेक्युलर तो था मगर इसका सेक्युलरिज़्म स्वयं हिन्दू पुनरुत्थानवाद की ओर झुकाव रखता था। जो कांग्रेसी नेता पुनरुत्थानवादी रुझान नहीं रखते थे उनका सेक्युलरिज़्म पुंसत्वहीन था और कभी साम्प्रदायिक कट्टरता के ख़िलाफ़ लड़ नहीं सकता था। दूसरी अवस्थिति साम्राज्यवाद-विरोधी थी जो कम्युनिस्टों ने अपनायी। उन्होंने लगातार ईमानदारी से जनता को एकजुट करते हुए संघर्ष किया लेकिन तमाम रणनीतिक और कूटनीतिक मसलों पर साफ़ न हो पाने के कारण पूरे स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान उनसे तमाम ग़लतियाँ हुईं जिसके कारण वे कभी भी आन्दोलन के नेतृत्व को अपने हाथ में नहीं ले सके। और तीसरा पक्ष था हिन्दू साम्प्रदायिकतावादियों का जिन्होंने अपनी फ़ासीवादी विचारधारा को हिन्दू राष्ट्रवाद के चोगे में पेश किया। वे कितने राष्ट्रवादी थे यह तो हम देख ही चुके हैं। उनका असली प्रोजेक्ट फ़ासीवाद का था जिसे राष्ट्रवाद के चोगे में छिपाया गया था।

1925 में आर.एस.एस. की स्थापना हुई। इस समय तक कांग्रेसी राष्ट्रवाद साम्प्रदायिक एकता को कायम रखने की इच्छा और इरादा दोनों ही खोने लग गया था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने हिन्दू साम्प्रदायिकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने और उन्हें आपस में लड़ाने का शुरू से ही हर सम्भव प्रयास किया। कई इतिहासकार तो यहाँ तक मानते हैं कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता अंग्रेज़ों की ही पैदा की हुई चीज़ है। अंग्रेज़ों के आने से पहले किसी साम्प्रदायिक दंगे का कहीं कोई हवाला नहीं मिलता है। यह पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद और अंग्रेज़ों के प्रयास के संगम से पैदा हुई थी। बंगाल का विभाजन करने के पीछे अंग्रेज़ों का सबसे बड़ा मकसद यही था। कहीं वे हिन्दू फ़ासीवादियों का साथ देते तो कहीं इस्लामी कट्टरपन्थियों का। जनगणना का भी अंग्रेज़ों ने साम्प्रदायिकता बढ़ाने के लिए बख़ूबी इस्तेमाल किया। कम्युनिस्टों ने इन प्रयासों का प्रतिरोध किया लेकिन फ़ासीवाद से लड़ने की कोई सुसंगत रणनीति न होने के कारण यह प्रतिरोध सफल न हो पाया।

साम्प्रदायिकता का कारगर विरोध और ध्वंस न होने का नतीजा यह था कि 1925 में संघ की स्थापना के 15 वर्ष बीतते-बीतते उसकी सदस्यता क़रीब एक लाख तक पहुँच चुकी थी। उस समय तक संघ एक हिन्दू पुनरुत्थानवादी और कट्टरपन्थी अवस्थिति को अपनाता और उसका प्रचार करता था। उसके निशाने पर मुसलमान प्रमुख तौर पर थे। औपनिवेशिक सत्ता का विरोध करना संघ ने कभी अपना कर्तव्य नहीं समझा और हमेशा अंग्रेज़ों का वफ़ादार बना रहा। लेकिन हिन्दू राष्ट्रवाद की बात करना वह शुरू कर चुका था। उसके प्रचार में प्राचीन भारत के "हिन्दू" गौरव का गुणगान होता था। अभी फ़ासीवादी विचारधारा को लागू करने में संघ स्वयं प्रशिक्षित हो रहा था। 1930 के दशक के अन्त तक गोलवलकर के नेतृत्व में संघ आधुनिक फ़ासीवादी विचारधारा और कार्यप्रणाली को भारतीय सन्दर्भों में लागू करने की शुरुआत कर चुका था। शाखाओं का विराट ताना-बाना देश के तमाम हिस्सों में फैलना शुरू हो चुका था। आज़ादी के आन्दोलन में अपनी शर्मनाक भूमिका को संघ ने आज़ादी के बाद अपने झूठे प्रचारों से ढँकना शुरू किया। यह काम संघ को आज तक करना पड़ता है क्योंकि संघ के नेताओं की ग़द्दारी के दस्तावेज़ी प्रमाण बड़े पैमाने पर मौजूद हैं, जैसे कि माफ़ीनामे, मुखबिरी, वफ़ादारी के वायदे, आदि, संघी फ़ासीवादियों ने अंग्रेज़ों से किये।

आज़ादी मिलने के बाद सत्ता कांग्रेस के हाथ में आयी और नेहरू प्रधानमन्त्री बने। गोलवलकर इस पर काफ़ी हताश हुए और उन्होंने इसे मुसलमानों के हाथों से मिली हार माना। इसके बाद संघ ने अपने तमाम संगठनों की स्थापना शुरू की जिनमें विश्व हिन्दू परिषद प्रमुख था। बाद में **बजरंग दल, वनवासी कल्याण परिषद, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, दुर्गा वाहिनी**, इत्यादि संगठनों की भी स्थापना की गयी। इन सभी संगठनों के ज़रिये संघ ने देश के कोने-कोने में और हर सामाजिक श्रेणी में अपने पाँव पसारने शुरू किये। संघ 1980 के आते-आते देश का सबसे बड़ा संगठन बन चुका था। भाजपा सत्ता में आये या न आये पूँजीवादी व्यवस्था के रहते संघी फ़ासीवादी हमेशा एक ख़तरे के तौर पर मौजूद रहेंगे। एक अर्थशास्त्री **माइकल कालेकी** ने सत्ता से बाहर फ़ासीवाद को ज़ंजीर से बँधे कुत्ते की संज्ञा दी थी। भारत में यह रूपक हूबहू लागू होता है। अगर यह कुत्ता ज़ंजीर से न बँधा रहे और इसके हाथ में पूरी सत्ता हो तो वह क्या कर सकता है यह जर्मनी और इटली में हम देख चुके हैं। लेकिन ज़ंजीर से बँधे होने की चिड़चिड़ाहट में भी यह कुत्ता बहुत से कुकृत्य कर सकता है, यह बात भारत के इतिहास से साबित होती है।

भारत में पिछले 4 दशकों में संघी फ़ासीवाद के अभूतपूर्व विस्तार के क्या कारण थे? भारत में फ़ासीवाद की ज़मीन क्या थी? कौन से वर्ग फ़ासीवाद के सामाजिक आधार बने? यह समझना फ़ासीवाद से मुक़ाबले की रणनीति बनाने में सबसे ज़्यादा अहमियत रखता है।

(अगले अंक में जारी)

हिटलर के तम्बू में

अब तक छिपे हुए थे उनके दाँत और नाख़ून ।
संस्कृति की भट्ठी में कच्चा गोश्त रहे थे भून ।
छाँट रहे थे अब तक बस वे बड़े-बड़े क़ानून ।
नहीं किसी को दिखता था दूधिया वस्त्र पर ख़ून ।
अब तक छिपे हुए थे उनके दाँत और नाख़ून ।
संस्कृति की भट्ठी में कच्चा गोश्त रहे थे भून ।

मायावी हैं, बड़े घाघ हैं, उन्हें न समझो मन्द ।
तक्षक ने सिखलाए उनको 'सर्प नृत्य' के छन्द ।
अजी, समझ लो उनका अपना नेता था जयचन्द ।
हिटलर के तम्बू में अब वे लगा रहे पैबन्द ।
मायावी हैं, बड़े घाघ हैं, उन्हें न समझो मन्द ।

– नागार्जुन

फ़र्ज़ी मुठभेड़ों, पुलिस हिरासत में प्रतिदिन 4 बेकसूर मारे जाते हैं

दमनकारी, शोषक, जनविरोधी सरकार को ऐसी ही सेना, ऐसी पुलिस चाहिए!!

गुजरात पुलिस के हाथों फ़र्ज़ी मुठभेड़ में इशरत जहां और तीन अन्य नौजवानों की हत्या की सच्चाई जाँच कमेटी ने तो अब बतायी है लेकिन देश की आदमख़ोर पुलिस और नरेन्द्र मोदी की ख़ूनी सरकार को जानने वाले लोग शुरू से ही इसे एक नृशंस हत्या ही मानते रहे हैं। पुलिस को फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में बेकसूरों की हत्याएँ करने का लाइसेंस मिला हुआ है। चाहे देहरादून में उत्तराखण्ड पुलिस के हाथों 22 वर्षीय छात्र रणवीर की हत्या हो, बाटला हाउस में कथित मुठभेड़ में आतंकवादियों के नाम पर चार नौजवानों की हत्या का मामला हो या कश्मीर के शोपियां में दो युवतियों की बलात्कार के बाद हत्या की घटना हो – हर जगह पुलिस और सेना की घिनौनी करतूतें सामने आते ही सरकारें फ़ौरन उनके बचाव में उतर आती हैं।

पूरे देश के पैमाने पर पुलिस, सेना और अन्य सशस्त्र बलों द्वारा अधिकतर अवैध और कभी-कभी वैध तरीक़े से लोगों को हिरासत में लेना और टॉर्चर करके उन्हें मार डालना एक आम प्रवृत्ति बन गयी है, जो साल दर साल बढ़ती जा रही है। एक तरफ़ तो इस जघन्य अपराध की घटनाएँ लगातार बढ़ती जा रही हैं, वहीं दूसरी तरफ़ सरकार, प्रशासन या न्यायपालिका की तरफ़ से इसके ख़िलाफ़ कोई प्रभावी क़दम उठाने की पहल होती नज़र नहीं आ रही है। निश्चित तौर पर इस उदासीनता का एक प्रमुख कारण यह है कि वर्दीधारियों की अमानवीयता का शिकार होने वालों में सबसे बड़ी संख्या ग़रीब और निम्नमध्यवर्गीय लोगों की होती है, और सम्पत्ति को ही अन्तिम पैमाना मानने वाली इस व्यवस्था में जिनके जान की क़ीमत कुछ ख़ास नहीं समझी जाती।

ये तथ्य एशियन सेण्टर फ़ॉर ह्यूमन राइट्स (एसीएचआर) की हाल ही में प्रकाशित रिपोर्ट – **टॉर्चर इन इण्डिया 2009 (भारत में टॉर्चर 2009)** में उजागर हुए हैं। इस रिपोर्ट के मुताबिक़ 1 अप्रैल 2001 से 31 मार्च 2009 तक भारतभर से 1184 लोगों के पुलिस हिरासत में मरने की सूचना राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को मिली। इसमें बहुत बड़ी संख्या उन लोगों की है, जिनकी मौत पुलिस हिरासत में बर्बर टॉर्चर के कारण हुई। ज़्यादातर मौतें पुलिस हिरासत में लिये जाने के 48 घण्टे के भीतर हुईं। वर्ष 2007 में पुलिस हिरासत में 118 लोगों की मौत हुई जबकि 2006 में यह संख्या 89 थी। यानी कि एक साल में 32.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी के बरक्स रिपोर्ट बताती है कि 2007 में पुलिस हिरासत में हुई मौतों के 118 मामलों में सिर्फ़ 61 मामलों में मजिस्ट्रेट द्वारा जाँच के आदेश दिये गये या जाँच की गयी। 12 मामलों में क़ानूनी जाँच हुई। 57 मामलों में पुलिसकर्मियों के ख़िलाफ़ मामले दर्ज किये गये और 35 पुलिसकर्मियों के ख़िलाफ़ चार्जशीट दाख़िल की गयी। ग़ौरतलब है कि वर्ष 2007 में हिरासत में हुई मौत के मामलों में एक भी पुलिसकर्मी को सज़ा नहीं हुई। ध्यान देने वाली बात यह भी है कि ये आँकड़े सिर्फ़ उन मामलों के हैं जिनकी सूचना सम्बन्धित राज्यों की पुलिस ने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को दी है। एसीएचआर की रिपोर्ट कई ऐसे मामलों का ज़िक्र करती है जिनमें हिरासत में हुई मौत की सूचना पुलिस ने मानवाधिकार आयोग को नहीं दी। इसके अलावा सेना, अर्द्धसैनिक बलों, सीमा सुरक्षा बल और अन्य सशस्त्र बलों की हिरासत मे होने वाली मौतों का ज़िक्र इस रिपोर्ट में नहीं है, क्योंकि ये बल केन्द्र सरकार के नियन्त्रण में हैं।

इस रोशनी में देखें तो हिरासत में होने वाली कुल मौतों की संख्या इससे बहुत अधिक होने की सम्भावना है। पिछले साल प्रकाशित एक ख़बर के अनुसार भारतभर में हर रोज़ पुलिस हिरासत या क़ानूनी हिरासत में औसतन चार लोगों की मौत होती है। अगर आतंकवादी गतिविधियों में औसतन रोज़ दो लोगों के मरने के आँकड़े से इसकी तुलना की जाये तो यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि भारत के लोगों की जान को आतंकवादियों मुकाबले पुलिस वालों से ज़्यादा ख़तरा है।

एसीएचआर की रिपोर्ट में दिये गये तथ्य आतंक और दहशत की उस पूरी भावना को व्यक्त नहीं करते जो पुलिस और सेना तथा सशस्त्र बलों की मौजूदगी में जनता में व्याप्त होती है। देश और देश की सुरक्षा के नाम पर आज़ादी के बाद से भारतीय सेना और पुलिस ने जितने लोगों का ख़ून बहाया है, उतना अपने दो सौ वर्षों के शासन में अंग्रेज़ों ने भी नहीं बहाया था। तमाम तरह के जनान्दोलनों को कुचलने में पुलिस और फ़ौज की निर्ममता किसी विदेशी सेना से कम नहीं होती। यह अनायास नहीं है कि देश के एक प्रतिष्ठित न्यायाधीश ने पुलिस को सबसे बड़ा संगठित गुण्डा गिरोह क़रार दिया था। पुलिस की बर्बरता, अमानवीयता और जनविरोधी रवैया कोई गुप्त चीज़ नहीं हैं, इसके साथ ही पुलिस विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार और उसका वर्ग-पूर्वाग्रह (धनिकों का पक्ष लेना और ग़रीबों का उत्पीड़न करना) भी सभी जानते हैं।

एसीएचआर की रिपोर्ट भी मानती है कि पुलिस-प्रताड़ना का शिकार सबसे अधिक समाज का ग़रीब और वंचित तबक़ा ही होता है। हमारे समाज में जहाँ मध्यवर्ग तक के लोग पुलिसिया दुर्व्यवहार और अपमान से भय खाते हैं, वहाँ ग़रीब लोगों के लिए पुलिस गाली-गलौच, मार-पिटाई और जिल्लत-अपमान का पर्याय है। एक ग़रीब आदमी के लिए संविधान द्वारा दिये गये सभी अधिकार और कोर्ट-कचहरी के न्याय का मतलब तभी समाप्त हो जाता है, जब सरेआम माँ-बहन करता हुआ पुलिसवाला उसका गिरेबान पकड़कर उसकी औकात बता देता है। पैसे और पहुँच के अभाव में ग़रीब आदमी चौराहे से लेकर थाने तक अपमान और अत्याचार सहन करता है और जटिल और महँगी न्याय-व्यवस्था की शरण में जाने के बाद तो वह एक दुश्चक्र में फँसकर रह जाता है। पहले से ही मुक़दमों के अम्बार के तले दबी न्यायपालिका की शरण में ग़रीब आदमी ठगा-सा ही महसूस करता है। इस दौरान पुलिस का डण्डा अपना न्याय करता रहता है और सज़ा मुकर्रर करता रहता है। भारतीय अदालतों में लगभग 3 करोड़ मुकदमे लम्बित हैं, जिनका वर्तमान रफ़्तार से निपटारा करने में सैकड़ों साल लग जायेंगे और वह भी तब जब कोई नया मामला दर्ज न हो। एसीएचआर की रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2006 के अन्त तक भारत की जेलों में कुल 3,73,271 क़ैदी थे जिनमें 65.7 प्रतिशत विचाराधीन क़ैदी थे। इनमें भी 1,569 विचाराधीन क़ैदी ऐसे थे, जो पाँच साल या उससे भी अधिक समय जेल में बिता चुके थे और अभी तक उनका गुनाह तक सिद्ध नहीं हुआ था। इनमें से ज़्यादातर लोगों का सबसे बड़ा गुनाह यही है कि ये लोग ग़रीब तबक़े के हैं और पुलिस-प्रशासन को रिश्वत देकर अपना गुनाह कम नहीं करवा सकते।

पुलिस और सेना द्वारा मानवाधिकारों का खुलेआम और बड़े पैमाने पर हनन के विरोध में मीडिया और सभ्य समाज में किसी सार्थक पहल का पूरी तरह अभाव है। पुलिसिया मुठभेड़ में बेकसूर लोगों की हत्या की घटनाएँ मीडिया में सनसनी के तौर पर परोसी जाती हैं। एनकाउण्टर अपने आप में एक ग्लैमरस शब्द बना दिया गया है। एनकाउण्टरों में ज़्यादातर निर्दोष लोग मारे जाते हैं और जो गुनहगार मारे भी जाते हैं, उन्हें कभी पुलिस-प्रशासन का प्रश्रय मिल चुका रहता है, लेकिन वर्तमान स्थिति में उन्हें निपटा देना ही तन्त्र के हित में होता है। यह देखते हुए कहा जा सकता है कि आम भाषा में जिन्हें हत्यारा कहा जाना चाहिए उन्हें हमारे "सभ्य" समाज में एनकाउण्टर किंग कहा जाता है – तमगे, पुरस्कार, प्रोमोशन और इज़्ज़त से नवाज़ा जाता है। वहीं दूसरी तरफ़ आतंकवाद का हौवा खड़ाकर मीडिया पुलिस और सेना के प्रति लोगों के मन में एक सहानुभूति का भाव पैदा करता है और ऐसी मानसिकता बनाता है जिसमें पुलिस और सेना की ज़्यादतियों को क्षम्य मान लिया जाता है। आम सामाजिक जीवन में रोज़-ब-रोज़ होने वाले मानवाधिकार हनन के बारे में मीडिया ख़ामोश रहता है। अपने घर, नौकरी, बीमा, शेयर में फँसे सभ्य मध्यवर्गीय नागरिक के पास मानवाधिकार की फ़िक्र करने की फ़ुर्सत भी नहीं होती और वह समझता है कि यह उसका नहीं बल्कि मानवाधिकार कार्यकर्ता नामक ख़ास नस्ल के लोगों का काम है।

सरकार ने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग और राज्यों में मानवाधिकार आयोग जैसे नुस्ख़े बनाये हैं लेकिन इन आयोगों के पास कोई ख़ास अधिकार ही नहीं होते। ये सिर्फ़ जवाब-तलब कर सकते हैं और सूचनाएँ इकट्ठा कर सकते हैं। सरकारी अधिकारी बहुत बाध्य हो जाने पर ही और काफ़ी टालमटोल के बाद इनकी बात मानते हैं। इन आयोगों की शिकायतें और संस्तुतियाँ कार्रवाई के इन्तज़ार में पड़ी धूल फाँकती रहती हैं। हिरासत में मौत होने के ज़्यादातर मामलों में पीड़ित के स्वास्थ्य सम्बन्धी रिपोर्टों और मौजूदा साक्ष्यों के बजाय राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग पुलिस के बयान को तरजीह देता है। यही कारण है कि वर्ष 2007 में हिरासत में हुई मौतों के सिलसिले में एक भी पुलिसकर्मी को सज़ा नहीं हो पायी। अन्य सरकारी विभागों की तरह ही राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग भी आम जनता को जितनी राहत देता है, उससे कहीं अधिक का भ्रम बनाये रखता है।

जिस समाज का ढाँचा 90-95 करोड़ ग़रीब लोगों की बर्बर लूट के दम पर मुट्ठी भर अमीरों और सुविधाभोगी तबकों को ऐशो-आराम दिलाने पर टिका हुआ है, वहाँ एक ऐसे तन्त्र का होना ज़रूरी है जो ताक़त के दम पर बहुमत को क़ाबू में रखे और थोड़े से विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के हितों की रक्षा करे। आज के पूँजीवादी समाज में पुलिस-सेना-न्यायालय-अफ़सरशाही का तन्त्र इसी ज़रूरत को पूरा करता है। चाहे कितने भी सरकारी विभाग या आयोग बना दिये जायें, वे पुलिस और सेना के दमन और अत्याचार से जनता को राहत नहीं दिला सकते। असल बात तो यह है कि न्यायपालिका, विधायिका आदि पूँजीपतियों की तानाशाही के दिखाने के दाँत हैं, सेना, पुलिस और तरह-तरह के अर्द्धसैनिक बल ही उसके खाने के दाँत हैं। तमाम पुलिसिया दमन-उत्पीड़न के बावजूद सरकार दोषी पुलिसकर्मियों पर न तो कोई कार्रवाई करती है और न ही ब्रिटिशकालीन पुलिस सम्बन्धी क़ानूनों में संशोधन करती है। तरह-तरह के रंग-बिरंगे झण्डों वाली कोई भी चुनावबाज़ पार्टी इसके बारे में कुछ नहीं बोलती। अपना शासन आने पर सभी राजनीतिक पार्टियाँ इसी तन्त्र की बदौलत लूट का अपना राज चलाती हैं। मज़दूरों और आम जनता द्वारा अपनी जायज़ माँगों के लिए चलाये जाने वाले आन्दोलनों का दमन करने में सेना-पुलिस खुले तौर पर कम्पनी मालिकों-पूँजीपतियों के लठैत और दलाल की भूमिका निभाती हैं।

– जयपुष्प

भारत का संविधान कहता है...

हम, भारत के लोग, भारत को **एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, समाजवादी, पन्थ-निरपेक्ष, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को :

*सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय**,*
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
*और उपासना की **स्वतन्त्रता**,*
*प्रतिष्ठा और अवसर की **समता***
प्राप्त कराने के लिए,
*तथा उन **सब में** व्यक्ति की गरिमा और*
राष्ट्र की एकता और अखण्डता
***सुनिश्चित** करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए*

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हज़ार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

.....

परन्तु विज्ञान हमें यह शिक्षा देता है कि हम अपने पूर्वजों द्वारा कही गयी बातों और "पवित्र ग्रन्थों" में लिखे प्रवचनों पर अन्धभक्ति की बजाय अपनी राय वस्तुगत परिस्थितियों का आकलन करके बनायें। भारतीय लोकतन्त्र की वस्तुगत परिस्थितियों के अनुसार तो निम्नलिखित व्याख्या ही की जा सकती है :

हम, भारत के पूँजीपति और राजनीतिज्ञ, भारत को एक वर्चस्ववादी पूँजीवादी साम्प्रदायिक वंशवादी गणराज्य बनाने के लिए, तथा आपस में :

*लूट के बँटवारे में **न्याय***
*जनता के श्रम के बेरोकटोक शोषण की **स्वतन्त्रता***
*अत्याचार के अवसरों की **समानता***

एवं अपनी विलासिता सुनिश्चित करके आपसी **बन्धुत्व** को बढ़ाने के साथ ही भारत की जनता पर निम्नलिखित थोपने की साजिश रचते हैं :

***अन्याय** : सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक*
***पाबन्दी** : विचारों, अभिव्यक्ति और मानवाधिकारों की*
***असमानता** : आय, प्रतिष्ठा और अवसरों की*
***शत्रुता** : जनता का श्रम निचोड़कर और उन्हें धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्र के नाम पर बाँटकर*

– आनन्द

मज़दूर वर्ग का नारा होना चाहिए – "मज़दूरी की व्यवस्था का नाश हो!"

• कार्ल मार्क्स

अपनी श्रम-शक्ति बेच कर–और वर्तमान व्यवस्था में उसे यह बेचनी ही पड़ती है–मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति पूँजीपति को इस्तेमाल करने के लिए सौंप देता है,–पर कुछ तर्कसंगत सीमाओं के भीतर। मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति को क़ायम रखने के लिए उसे बेचता है, नष्ट करने के लिए नहीं,–हाँ, इस्तेमाल के दौरान में वह भले ही थोड़ी घिस जाये, या कम हो जाये। यह भी पहले से मान लिया जाता है कि यदि मज़दूर ने दैनिक या साप्ताहिक मूल्य पर अपनी श्रम-शक्ति बेची है, तो एक दिन में या एक सप्ताह में उसकी श्रम-शक्ति की दो दिन या दो सप्ताह के बराबर घिसाई या बरबादी नहीं होगी। फ़र्ज़ कीजिये, 1,000 पौण्ड की एक मशीन है। यदि वह दस साल तक चलती है, तो जिन मालों के उत्पादन में उससे काम लिया जाता है, उनके मूल्य में वह हर साल पौण्ड जोड़ेगी। यदि वह पाँच साल में ही बेकार कर डाली जाती है तो वह हर साल 200 पौण्ड का मूल्य जोड़ेगी। या यूँ कहिये कि उसकी सालाना घिसाई उतनी ही कम होती है जितने अधिक समय तक मशीन काम देती है और उसकी घिसाई उतनी ही अधिक होती है जितने कम समय में उसे बेकार किया जाता है। परन्तु इस मामले में आदमी और मशीन में फ़र्क़ होता है। मशीन जिस अनुपात में इस्तेमाल की जाती है, ठीक उसी अनुपात में घिसती नहीं है। आदमी, इसके विपरीत, उससे अधिक अनुपात में घिस जाता है। केवल काम के घण्टों की संख्या की वृद्धि से आदमी के घिसने का पर्याप्त ज्ञान नहीं होता।

मज़दूर काम के दिन को छोटा करने की कोशिश करते हैं और उसे फिर से उसकी पुरानी विवेकपूर्ण सीमाओं के अन्दर लाने का प्रयत्न करते हैं, या जब क़ानून के द्वारा काम के दिन की सीमा बँधवाना सम्भव नहीं होता, तब मज़दूरी बढ़वाकर ज़्यादा काम पर रोक लगाते हैं। इसके लिए वे मज़दूरी में ऐसी बढ़ती कराने की कोशिश करते हैं जो सिर्फ़ उनसे लिये गये अतिरिक्त श्रम के अनुपात में ही नहीं, बल्कि उससे बड़े अनुपात में हो। ऐसा करके मज़दूर केवल अपने प्रति और अपनी नस्ल के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करते हैं। ऐसा करके वे केवल पूँजी की ज़ालिमाना लूट को सीमित करने की कोशिश करते हैं। समय मानव विकास की परिधि है। जिस आदमी के पास अपनी इच्छानुसार उपयोग करने के लिए ज़रा भी स्वतन्त्र समय नहीं है, जिसका पूरा जीवन, निद्रा, भोजन, आदि, चन्द शारीरिक आवश्यकताओं के लिए ज़रूरी क्षणों को छोड़कर, पूँजीपति के लिए मेहनत करने में ख़र्च होता है, वह आदमी बोझा ढोने वाले पशु से भी बदतर है। वह तो महज़ एक मशीन बन जाता है जो **विदेशी दौलत** पैदा करने के काम में आती है। उसका शरीर जर्जर और मस्तिष्क पशु-तुल्य हो जाता है। फिर भी, आधुनिक उद्योग-धन्धों का इतिहास बताता है कि यदि पूँजी को रोका नहीं जाता है, तो वह बेतहाशा और निर्ममतापूर्वक समस्त मज़दूर वर्ग को घोर पतन के गर्त में धकेलने का काम जारी रखेगी।

काम के दिन को लम्बा करके पूँजीपति पहले से **ज़्यादा मज़दूरी** देते हुए भी **श्रम के मूल्य** को कम कर सकता है। यह उस वक़्त होता है जब मज़दूरी में बढ़ती उतनी नहीं होती जितना मज़दूर से अतिरिक्त काम लिया जाता है, और इसके परिणामस्वरूप मज़दूर की श्रम-शक्ति जल्दी घिस जाती है। यह एक और ढंग से भी किया जा सकता है। मिसाल के लिए, आपके मध्य-वर्गीय गणना-विशारद आप से कहेंगे कि लंकाशायर के मज़दूर परिवारों की औसत मज़दूरी में बढ़ती हुई है। वे यह भूल जाते हैं कि पहले जहाँ केवल परिवार का प्रमुख पुरुष ही काम करता था, वहाँ अब उसकी पत्नी और शायद तीन या चार बच्चे भी पूँजी की चक्की में पिसते हैं। और इसलिए परिवार की कुल मज़दूरी में जो बढ़ती हुई है, वह परिवार से लिये जाने वाले कुल अतिरिक्त श्रम के अनुरूप नहीं है।

आजकल उद्योग की उन सभी शाखाओं में जो फ़ैक्टरी-क़ानूनों के मातहत हैं, काम के दिन पर कुछ सीमाएँ लगी हुई हैं। पर इन सीमाओं के बावजूद यह आवश्यक हो सकता है कि, और कुछ नहीं तो मज़दूरों के **श्रम के मूल्य** के पुराने स्तर को क़ायम रखने के लिए, उनकी मज़दूरी बढ़ाई जाये। श्रम की **तीव्रता** बढ़ा कर एक घण्टे में आदमी से उतनी ही ताक़त ख़र्च कराई जा सकती जितनी वह पहले दो घण्टे में ख़र्च करता था। इन उद्योगों में, जिन पर फ़ैक्टरी-क़ानून लागू हो गये हैं, यह चीज़ किसी हद तक मशीनों को तेज़ करके, और उन मशीनों की संख्या बढ़ा कर जिन्हें अब अकेले एक आदमी को देखना पड़ता है, की गयी है। यदि श्रम की तीव्रता में होने वाली वृद्धि का, या एक घण्टे में लिए जाने वाले श्रम के परिमाण में बढ़ती का, काम के दिन की लम्बाई में होने वाली कमी से कुछ उचित अनुपात रहता है, तो मज़दूर की ही जीत होगी। पर यदि यह सीमा भी पार कर ली जाती है तो एक ढंग से मज़दूर का जो फ़ायदा हुआ है, वह दूसरे ढंग से उससे छीन लिया जाता है, और तब हो सकता है कि दस घण्टे का काम उसके लिए उतना ही प्राणलेवा बन जाये जितना पहले बारह घण्टे का था। श्रम की बढ़ती हुई तीव्रता के अनुसार मज़दूरी बढ़वाने के लिए लड़कर मज़दूर पूँजी की इस प्रवृत्ति को रोकने की जो कोशिश करता है, उसके द्वारा वह केवल अपने श्रम के मूल्य को कम होने से रोकता है और अपनी नस्ल को ख़राब होने से बचाता है।

4. आप सब जानते हैं कि कुछ ऐसे कारणों से जिनका स्पष्टीकरण इस समय आवश्यक नहीं है, पूँजीवादी उत्पादन एक निश्चित अवधि में पूरे हो जाने वाले कुछ चक्रों में घूमता है। पहले वह एक निश्चल अवस्था में होता है, फिर उसमें अधिकाधिक जीवन दिखाई पड़ने लगता है, फिर समृद्धि का काल आता है, उसके बाद व्यवसाय आवश्यकता से अधिक बढ़ जाता है, फिर संकट टूट पड़ता है और अन्त में फिर रुकावट की हालत आ जाती है। मालों के बाज़ार-भाव और मुनाफ़े की बाज़ार-दरें इन अवस्थाओं का अनुसरण करती हैं और कभी औसत से कम हो जाती हैं तथा कभी औसत से ज़्यादा हो जाती हैं। पूरे चक्र पर विचार कीजिये तो आप को पता चलेगा कि बाज़ार-भाव के एक भटकाव का असर दूसरे भटकाव से बराबर हो जाता है और यदि चक्र का औसत निकाला जाये, तो मालों के बाज़ार भाव का नियमन उनके मूल्यों के द्वारा ही होता है। अस्तु, गिरते बाज़ार-भावों की और संकट तथा सुस्ती की अवस्था में, मज़दूर यदि नौकरी से निकाला नहीं जाता, तो उसकी मज़दूरी तो ज़रूर ही काट ली जाती है। यदि वह अपनी जेब नहीं कटने देना चाहता तो ज़रूरी है कि बाज़ार-भावों के गिरने की इस दशा में भी, पूँजीपति से इस प्रश्न पर मोल-भाव करे कि उसकी मज़दूरी में किस अनुपात में कटौती करना आवश्यक हो गया है। समृद्धि के काल में, जब अतिरिक्त मुनाफ़ा हो रहा था, यदि उसने मज़दूरी बढ़वाने के लिए संघर्ष नहीं किया था, तो एक पूरे औद्योगिक चक्र का औसत ध्यान में रखते हुए, उसको **औसत मज़दूरी** भी नहीं मिलेगी, यानी वह अपने श्रम का **मूल्य** तक नहीं **हासिल** कर सकेगा। मज़दूर से यह माँग करना मूर्खता की हद है कि उसकी मज़दूरी पर चक्र की बुरी अवस्थाओं का लाज़िमी प्रभाव तो पड़ने दिया जाये, पर चक्र की समृद्धिशाली अवस्थाओं में अपना नुक़सान पूरा करने की उसे कोशिश नहीं करनी चाहिए। आम तौर पर, सभी मालों के मूल्यों के अमल में आने का केवल यही तरीका है कि माँग और पूर्ति के अनवरत उतार-चढ़ाव के कारण बाज़ार-भाव लगातार बदलते रहते हैं, कभी घटते है तो कभी बढ़ जाते हैं और इस प्रकार नुक़सान पूरा कर लेते हैं। वर्तमान व्यवस्था में दूसरे मालों की तरह श्रम भी एक माल ही है। इसलिए, अपने मूल्य के बराबर औसत दाम पर बिकने के लिए, श्रम के लिए भी ज़रूरी है कि वह उसी तरह के उतार-चढ़ाव से गुजरे। श्रम को एक तरफ़ तो एक माल मानना और दूसरी तरफ़ उसे उन नियमों से मुक्त कर देना जो मालों के दामों का नियमन करते हैं – यह बिल्कुल बेहूदा बात है। गुलाम को जीवन-निर्वाह के लिए स्थायी रूप से निश्चित मात्रा में साधन मिलते थे। मज़दूरी पर काम करने वाले श्रमजीवी को वे नहीं मिलते। और कुछ नहीं तो, एक समय पर उसकी मज़दूरी में जो कटौती होती है, उसे पूरा करने के लिए ही उसे दूसरे समय मज़दूरी बढ़वाने को कोशिश करनी चाहिए। और यदि वह पूँजीपति की इच्छा को, उसके हुक़्म को जायेगा, एक स्थायी आर्थिक नियम के रूप में स्वीकार करके बैठ जायेगा, तो उसे उन तमाम मुसीबतों को भोगना पड़ेगा जो गुलाम भोगता था, पर गुलाम की सुरक्षा उसे नसीब नहीं होगी।...

... ...

मज़दूरी की दर अपेक्षाकृत ऊँची होने के बावजूद श्रम की उत्पादन-शक्ति के बढ़ने से पूँजी का संचय तेज़ हो जाता है। इससे एडम स्मिथ की तरह, जिसके ज़माने में आधुनिक उद्योग अपने बाल्य-काल में ही था, कोई यह नतीजा निकाल सकता है कि पूँजी का संचय तेज़ होने से मज़दूर का पलड़ा भारी हो जायेगा, क्योंकि उसके श्रम की माँग बढ़ेगी। इसी दृष्टिकोण से सोचते हुए बहुत से तत्कालीन लेखकों ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि यद्यपि पिछले बीस वर्षों में अंग्रेजी पूँजी इंग्लैण्ड की आबादी के मुक़ाबले में बहुत तेज़ी से बढ़ी है, पर मज़दूरी बहुत नहीं बढ़ी। बात असल में यह है कि संचय की प्रगति के साथ-साथ **पूँजी की बनावट** में **अधिकाधिक परिवर्तन** होता जाता है। कुल पूँजी का वह भाग जो अचल पूँजी के दूसरे भाग की तुलना में, जो अचल पूँजी कहलाता है, यानी जिसमें मशीन, कच्चा माल, और हर प्रकार के उत्पादन के साधन आते हैं, पूँजी के दूसरे भाग की तुलना में, जो मज़दूरी की शक्ल में अथवा श्रम ख़रीदने के लिए ख़र्च किया जाता है, अधिक तेज़ी से बढ़ता है। मिस्टर बार्टन, रिकार्डो, सिसमोन्दी, प्रोफ़ेसर रिचर्ड जोन्स, प्रोफ़ेसर रैमजे, चेरबुलिएज, आदि, ने इस नियम को कमोबेश सही रूप में पेश किया है।

यदि पूँजी के इन दो तत्त्वों का अनुपात शुरू में 1: 1 था तो उद्योग की प्रगति के साथ वह 5 : 1 हो जायेगा और इसी तरह बदलता जायेगा। यदि 600 की कुल पूँजी में से 300 औज़ारों, कच्चे माल, आदि, पर ख़र्च किये जाते हैं और 300 मज़दूरी पर, तो कुल पूँजी के दुगने होते ही 300 के बजाये 600 मज़दूरों की माँग पैदा हो जायेगी। पर यदि 600 की पूँजी में से 500 मशीनों, समान, आदि, पर और सिर्फ़ 100 मज़दूरी पर ख़र्च होते हैं, तो 300 के बजाये 600 मज़दूरों की माँग पैदा करने के लिए इसी पूँजी को 600 से 3,600 हो जाना पड़ेगा। अतएव, उद्योग की प्रगति में श्रम की मांग पूँजी के संचय के साथ-साथ नहीं बढ़ती। वह बढ़ती तो है; पर पूँजी जितनी ही तेज़ी से बढ़ती है, श्रम की माँग उतनी ही धीरे-धीरे बढ़ती है।

इन चन्द इशारों से यह बात साफ़ हो जानी चाहिए कि आधुनिक उद्योग-धन्धों का विकास खुद मज़दूर के ख़िलाफ़ पूँजीपति का पलड़ा अधिकाधिक भारी करता जाता है। और इसलिए पूँजीवादी उत्पादन की आम प्रवृति मज़दूरी का औसत स्तर ऊपर उठाने की नहीं, बल्कि उसे नीचे गिराने, या **श्रम के मूल्य** को कमोबेश उसकी **अल्पमत सीमा** पर पहुँचा देने की है। जब इस व्यवस्था में चीज़ों की प्रवृति ही ऐसी है, तो क्या इसका यह मतलब होता है कि मज़दूर वर्ग को पूँजी के हमलों का मुक़ाबला करना बन्द कर देना चाहिए और अस्थायी रूप से अपनी हालत सुधारने के उसे कभी-कभी जो अवसर मिलते हैं, उनका सर्वोतम उपयोग करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए? यदि मज़दूर ऐसा करेंगे तो वे सब के सब उन खाना-ख़राब बदनसीब इन्सानों में जा मिलेंगे जिनकी मुक्ति की कोई आशा नहीं रह गयी है। मैं समझता हूँ, मैंने यह सिद्ध कर दिया है कि जीवन-स्तर के लिए मज़दूरों के संघर्ष ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें मज़दूरी की पूरी व्यवस्था से अलग नहीं किया जा सकता, कि तनख़्वाह बढ़ाने की मज़दूरों की सौ में से निन्यानवे कोशिशें केवल अपने श्रम के मूल्य को ज्यों का त्यों क़ायम रखने की कोशिशें होती हैं, और यह कि मज़दूरों को चूँकि अपने-आपको मालों की तरह बेचना पड़ता है, इसलिए लाज़िमी हो जाता है कि वे पूँजीपति से अपने दाम के बारे में मोल-भाव करें। यदि मज़दूर पूँजी के साथ अपने रोज़मर्रा के संघर्ष में झुक जायेंगे तो निश्चय है कि वे कोई बड़ा आन्दोलन छेड़ने में भी असमर्थ रहेंगे।

इसके साथ-साथ, और मज़दूरी की व्यवस्था के साथ चलने वाली आम गुलामी से बिल्कुल अलग, मज़दूर वर्ग को यह नहीं समझना चाहिए कि इन रोज़मर्रा के संघर्षो का अन्त में कोई बहुत बड़ा परिणाम निकलेगा। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे किन्हीं प्रभावों से लड़ रहे हैं, लेकिन इन प्रभावों के कारणों से नहीं लड़ रहे हैं; वे नीचे की ओर धकेलने वाली गति को धीमा कर रहे हैं, पर उसकी दिशा नहीं बदल रहे हैं; वे मर्ज़ के असरात को कम करने के लिए दवा दे रहे हैं, पर मर्ज़ को दूर नहीं कर पा रहे हैं। ये छापेमार लड़ाइयाँ ज़रूरी हैं, और उनसे अलग नहीं रहा जा सकता, और पूँजी के कभी न रुकने वाले हमलों या बाज़ार के अनवरत परिवर्तनों के कारण वे लगातार फूटती रहती हैं। पर, मज़दूरों को सिर्फ़ उन्हीं में डूबकर नहीं रह जाना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिए कि मौजूदा व्यवस्था उन पर तरह-तरह की मुसीबतों के पहाड़ तो तोड़ती है, पर साथ ही, वह उन **भौतिक परिस्थितियों** और **सामाजिक रूपों** को भी तैयार करती है जो समाज का आर्थिक पुनर्निर्माण करने के लिए आवश्यक हैं। इसलिए ह**पूरे दिन के काम के लिए पूरे दिन की मज़दूरी मिले!**ह वाले रुढ़िवादी नारे की जगह उन्हें अपने झण्डे पर यह क्रान्तिकारी नारा लिखना चाहिए : **ह्मज़दूरी की व्यवस्था का नाश हो!ह**

इस बहुत लम्बी, और मुझे भय है, थकाने वाली विवृति के बाद, जो विषय के साथ न्याय करने के लिए आवश्यक हो गयी थी, मैं नीचे लिखे प्रस्ताव पेश करके अपनी बात ख़त्म करता हूँ:

एक : मज़दूरी की दर में आम बढ़ती से मुनाफ़े की आम दर तो गिरेगी, पर मोटे तौर पर, उसका मालों के दामों पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

दो : पूँजीवादी उत्पादन की आम प्रवृत्ति मज़दूरी का स्तर ऊपर उठाने की नहीं, बल्कि नीचे गिराने की है।

तीन : ट्रेड यूनियनें पूँजी के हमलों के प्रतिरोध के केन्द्रों के रूप में अच्छा काम करती हैं। आंशिक रूप से, वे अपनी शक्ति का अविवेकपूर्ण उपयोग करने के कारण असफल होती हैं। आम तौर पर, उनकी असफलता का कारण यह है कि वे अपने को वर्तमान व्यवस्था के प्रभावों के ख़िलाफ़ एक छापामार युद्ध चलाने तक सीमित रखती हैं और उसके साथ-साथ इस व्यवस्था को ही बदलने की कोशिश नहीं करतीं, अपनी संगठित शक्तियों को मज़दूर वर्ग की अन्तिम मुक्ति के लिए, अर्थात मज़दूरी की व्यवस्था के अन्तिम ख़ात्मे के लिए, इस्तेमाल नहीं करतीं।

('मज़दूरी, दाम और मुनाफ़ा' से)

अदम्य बोल्शेविक – नताशा

एक स्त्री मज़दूर संगठनकर्ता की संक्षिप्त जीवनी

(नवीं क़िश्त)

एल. काताशेवा

रूस की अक्टूबर क्रान्ति के लिए मज़दूरों को संगठित, शिक्षित और प्रशिक्षित करने के लिए हज़ारों बोल्शेविक कार्यकर्ताओं ने बरसों तक बेहद कठिन हालात में, ज़बरदस्त क़ुर्बानियों से भरा जीवन जीते हुए काम किया। उनमें बहुत बड़ी संख्या में महिला बोल्शेविक कार्यकर्ता भी थीं। ऐसी ही एक बोल्शेविक मज़दूर संगठनकर्ता थीं नताशा समोयलोवा जो आख़िरी साँस तक मज़दूरों के बीच काम करती रहीं। हम 'बिगुल' के पाठकों के लिए उनकी एक संक्षिप्त जीवनी का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि आम मज़दूरों और मज़दूर कार्यकर्ताओं को इससे बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। – सम्पादक

(पिछले अंक से आगे)

पेत्रोग्राद में 1917 में हुए ग़ैर-पार्टी स्त्री सम्मेलन और समूचे सोवियत गणराज्य की मज़दूर और किसान स्त्रियों की ग़ैरपार्टी कांग्रेस ने साबित किया कि संगठन के ये रूप मेहनतकश औरतों के जन आन्दोलन में प्राण संचार के लिए आयोजित किये जाते हैं। समोइलोवा ने अपनी ओर से यह सुनिश्चित कराने की हर चन्द कोशिश की कि ग़ैर-पार्टी सम्मेलन को जनता के पिछड़े तबक़ों के बीच पार्टी कार्यशैली के रूप में स्वीकार किया जाये। इन सभी सम्मेलनों में कॉमरेड समोइलोवा ने हर किसी को अपनी अद्वितीय क्षमता से प्रभावित किया। वह दृढ़, अधिकारपूर्वक काम करने वाली और साथ ही सहानुभूति रखने वाली चेयरमैन थीं। इन्हीं सम्मेलनों में समोइलोवा कीसांगठनिक और आन्दोलनात्मक क्षमता का भरपूर इस्तेमाल हुआ। और यहीं उन्होंने स्त्री मज़दूरों से कार्यकर्ता तैयार किये। वह ग़ैर-पार्टी सम्मेलनों को एक तरह का सांगठनिक और आन्दोलनात्मक कार्य मानती थीं, जिसका उपयोग तब किया जाना चाहिए जब आम जनता को सीधी कार्रवाई के लिए प्रेरित और निर्देशित करने की ज़रूरत हो। 1919 में आयोजित मास्को का ग़ैर-पार्टी सम्मेलन इसका उदाहरण है। मास्को में उन दिनों कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी और भुखमरी का आलम था। मज़दूर और किसान औरतों का ग़ैर-पार्टी सम्मेलन आयोजित हुआ लेकिन उनके बीच कामों की शुरुआत शायद ही हो पायी थी। और इन कठिन परिस्थितियो में ही ग़ैर-पार्टी स्त्री मज़दूर जेव्यालोवा की दमदार आवाज़ स्वागत भाषण में गूँज उठती है : "हम मज़दूर स्त्रियाँ फौलादी दीवार की तरह हैं जिसे कोई भी भेद नहीं सकता।" किसान औरतों ने अभाव और तंगी के बारे में शिकायत करने के बजाय इस बात का विरोध किया कि कुलक उन्हें काम करने का मौक़ा नहीं देते। उन्होंने कहा, "हमारे पास कॉमरेडों को भेजिये जो ग़रीब जनता का साथ देंगे, और सोवियत सत्ता का हम स्वागत करेंगे"। या यूक्रेन में मज़दूर और किसान स्त्रियों के सम्मेलन को ही लीजिये जहाँ कई बार मज़दूर विजयी रहे हैं और फिर अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवाद के नेतृत्व में जहाँ प्रतिक्रान्ति के ज़रिये निर्दयतापूर्वक प्रतिशोध लिया गया है। उस दौरान औरतों ने वहाँ क्या-क्या दुःख नहीं झेले – वे बर्बर आतताइयों के उन गिरोहों से घिरी हुई थीं जो कम्युनिस्टों का शिकार करते, औरतों को प्रताड़ित करते, तथा स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े किसी को भी नहीं बख़्श रहे थे। यूक्रेन की पार्टी की अग्रणी संगठनकर्ता कॉमरेड होपनर उन दिनों के यूक्रेन की तस्वीर पेश करती हैं :

"जब हम लाल सेना के साथ यूक्रेन लौटे, तो हमें ऐसा नज़ारा देखने को मिला, जिससे सख्त से सख्त लोगों का दिल दहल उठा था। सर्दी में नंगे पाँव, चीथड़ों में लिपटी, बदहाल कम्युनिस्ट स्त्रियों का रेला, कम्युनिस्टों की बहन और बेटियाँ या साधारण मज़दूर और किसान स्त्रियाँ – ये सभी सोवियत या पार्टी संगठनों की ओर बढ़ती जा रही थीं।

"कोई भी सोच सकता था कि उनकी यातनाएँ राजनीतिक काम के आड़े आयेंगी, कि हमें सिर्फ़ उन्हें खाना, कपड़ा और सिर छिपाने की जगह वग़ैरह ही देनी चाहिए, कि दूसरे सवालों में अब उनकी कोई ख़ास रुचि नहीं होगी...."

वह आगे कहती हैं कि उनके खारकोव पहुँचने के छह हफ़्ते बाद कॉमरेड समोइलोवा खारकोव आयीं और ग़ैर-पार्टी स्त्री सम्मेलन बुलाया। वहाँ ऐसे सन्देहवादी भी थे जिन्हें ग़लतफ़हमी और शत्रुता से सामना होने की आशंका सता रही थी।

"लेकिन पहले ही सत्र ने", कॉमरेड होपनर कहती हैं, "साबित कर दिया कि हम कितना ग़लत समझ रहे थे। स्वागत और शुरुआती भाषणों ने सोवियत सत्ता और कम्युनिस्ट पार्टी में ग़ैर-पार्टी स्त्रियों की सम्पूर्ण आस्था को प्रकट कर दिया। बाद में, सम्मेलन के दौरान जब उन्होंने उन ज़ुल्मों के बारे में बताना शुरू किया जो उन्हें झेलने पड़े थे तो यह स्पष्ट हो गया कि यह वर्गीय चेतना उन कड़वे सबक़ों का नतीजा थी। दुःस्वप्न के उन यातनाप्रद वर्षों ने हर सर्वहारा के दिल में इस चेतना की लौ जगा दी थी। बिना किसी शिकायत के, और उसी दृढ़ता के साथ उन्होंने श्वेत आतंक की बात की। एक का भाई फाँसी पर लटका दिया गया था, दूसरे के पति को गोली मार दी गयी थी, तीसरे का बेटा उसकी आँखों के सामने काट डाला गया था। उन परिवारों को कोड़े मारे गये और छड़ों से पीटा गया, जिन पर कम्युनिस्टों से सम्बन्ध होने का सन्देह था। कई प्रतिनिधियों के शरीर पर मार के निशान अभी तक मौजूद थे – उनके सिर, हाथ और पैरों पर चोटें थीं।"

सम्मेलन के बाद आम जनता के बीच सघन कामों की शुरुआत हुई। सैकड़ों की संख्या में ग़ैरपार्टी मज़दूर स्त्रियाँ वर्कर्स एण्ड पीज़ेण्ट्स इंस्पेक्शन से, शैक्षणिक विभागों से और स्वास्थ्य सम्बन्धी विभागों से जुड़ीं। सभाएँ, व्याख्यान कक्ष और पार्टी स्कूल स्त्रियों से ठसाठस भरे होते थे। "सोवियत के चुनावों में", कॉमरेड होपनर लिखती हैं, "जब मेंशेविक और उग्रराष्ट्रवादी उम्मीद कर रहे थे कि अकाल के चलते सोवियत सरकार का पतन हो जायेगा, और जब वे अपने कुत्सा-प्रचार में इस अकाल के लिए कम्युनिस्टों को ज़िम्मेदार ठहरा रहे थे, उस वक़्त मज़दूर स्त्रियाँ, लाल सेना से जुड़ी स्त्रियाँ, जो हमारी अर्थव्यवस्था की एकाएक गिरावट की मार सबसे ज़्यादा झेल रही थीं, कम्युनिस्ट पार्टी का एक मज़बूत दुर्ग साबित हुईं, और इसका श्रेय उन्हीं को जाता है कि हमारी सोवियतें कम्युनिस्ट हैं।"

अन्त में, वोल्गा के ग़ैर-पार्टी सम्मेलन को लें, जहाँ 1920 में सबसे ज्वलन्त और सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल अनाज के कोटे का था। सूखे की सम्भावना आसन्न लग रही थी और कुलकों ने अपना अनाज दबा रखा था। समोइलोवा ने 1920 में सरातोव में ग़ैरपार्टी मज़दूर सम्मेलन बुलाया, और इसमें अपने सक्षम मार्गदर्शन के बूते वह मज़दूर स्त्रियों से स्वेच्छापूर्वक तीन सौ पचास स्त्रियों के गाँव जाने और पैदावार की जाँच करने के वास्ते उन्हें आपूर्ति दस्ते में भेजने के पक्ष में वोट दिलाने में कामयाब रहीं। "क्योंकि कुलक अकाल के हड़ीले हाथों द्वारा नवजात सोवियत सत्ता का गला घोंटना चाहते हैं।" एक सौ मज़दूर स्त्रियाँ स्थायी रूप से देहातों में काम करने चली गयीं। समोइलोवा ने अख़बारों में इसकी झलकियों के बारे में लिखा, केन्द्रीय समिति और सीपीएसयू के स्त्री विभाग को इसकी सूचना दी और अपने पर्चों में इस सम्बन्ध में लिखा। वह सरातोव की स्त्रियों द्वारा प्रदर्शित इस पहलक़दमी का और व्यापक प्रचार करना चाहती थीं, ताकि दूसरे क़स्बों की मज़दूर स्त्रियाँ उनके उदाहरण पर अमल कर सकें।

सरातोव सम्मेलन के बाद समोइलोवा ने पार्टी के तमाम सक्रिय कार्यकर्ताओं को एकत्रित किया और सम्मेलन के फ़ैसलों को कैसे अमल में लाया जाये – इस पर उनके साथ विस्तार से चर्चा की, क्योंकि उन्हें इसका पूरी तौर से अहसास था कि जिन स्त्री प्रतिनिधियों को आपूर्ति कार्य में मदद के लिए सम्मेलन भेज रहा है, उनके कामों के इर्दगिर्द एक वर्गसंघर्ष विकसित हो जायेगा।

कई सिलसिलेवार ग़ैर-पार्टी सम्मेलनों के आयोजन के बाद समोइलोवा इस नतीजे पर पहुँचीं कि स्त्रियों के बीच पार्टी-कार्य जारी रखने का सबसे अच्छा तरीक़ा यही है। उन्होंने लिखा :

"ग़ैर-पार्टी सम्मेलन कम्युनिज़्म के जन-स्कूल और एक ऐसी आरक्षित सेना हैं, जहाँ से नये जीवन के निर्माण के लिए हम कार्यकर्ताओं की फ़ौज निकाल सकते हैं। सम्मेलनों में आने वाले प्रतिनिधि अपने अगुआ कामरेडों के अनुभव को पिछड़े ज़िलों तक ले जाते हैं।"

उन्होंने ऐसे सांगठनिक रूप विकसित करने के नज़रिये से, जो कम्युनिज़्म के लक्ष्य के लिए पिछड़ी जनता को राजनीतिक जीवन में खींच सके, हर सम्मेलन का विशेष रूप से अध्ययन किया। साथ ही, इन सम्मेलनों ने उन्हें यह देखने का मौक़ा भी दिया कि उनके भाषणों, उनके पर्चों, समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में लिखे उनके लेखों को आम जनता ने किस रूप में लिया है। आलोचनाओं से बिना डरे वे लगातार उन बिन्दुओं को स्पष्ट करती रहीं, जहाँ जनता ने उनके सही आशय को समझा नहीं था। जिस दूसरे तरह के काम को समोइलोवा काफ़ी महत्त्व देती थीं, वह था अख़बारों में "स्त्री मज़दूरों का पन्ना"। ऐसे पन्ने अपने जन्म के लिए पूर्णतः उन्हीं के ऋणी हैं। वह पहली व्यक्ति थीं जिन्होंने 1918 में 'लेनिनग्राद प्रावदा' में "स्त्री मज़दूरों के पन्ने" के लिए जगह निकलवायी थी और उसे इस ढंग से संगठित किया था कि "वह पन्ना" पार्टी के अन्य अख़बारों के लिए मॉडल बन गया। पर यही एकमात्र मूल्यवान विचार नहीं था, जिससे समोइलोवा ने इस काम में योगदान किया था। वह इस "पन्ने" को स्त्री मज़दूरों के पिछड़े तबक़े के बीच प्रयोग में आने वाली विशेष पद्धति के रूप में देखती थीं, स्त्री मज़दूरों के सक्रिय समूह बनाने के उपाय के रूप में देखती थीं।

"स्त्रियों का पन्ना" पुरानी पत्रिका 'वूमन वर्कर' की तरह सर्वोपरि तौर पर एक ऐसा स्थान था, जहाँ मज़दूर स्त्रियाँ ख़ुद को व्यक्त कर सकती थीं, अपने कार्यकर्ता-बलों की समीक्षा कर सकती थीं और अपने कार्यभारों को पहचान सकती थीं। वह स्त्री विभाग के प्रेस को "मज़दूर और किसान स्त्रियों" के लिए प्रेस के अंग के रूप में नहीं, बल्कि ख़ुद मेहनतकश जनता के अपने अख़बार के रूप में देखती थीं। वह स्त्री मज़दूरों से लगातार कहतीं कि "यह आपका अपना अख़बार है, इसमें आप अपनी ख़ुद की राय व्यक्त कर सकती हैं।"

कॉमरेड समोइलोवा स्त्री प्रतिनिधियों की बैठकों को भी काफ़ी महत्त्व देती थीं। समूचे सोवियत संघ में प्रतिनिधिमण्डलों की बैठकों को स्त्रियों में कामों का सबसे उल्लेखनीय रूप माना जाता है। सीपीएसयू की तेरहवीं कांग्रेस में पार्टी के नेता कॉमरेड स्तालिन ने उनके महत्त्व का उल्लेख करते हुए उन्हें पार्टी और स्त्री समुदाय के बीच की "कन्वेयर बेल्ट" कहा था। इस तरह के कामों में समोइलोवा ने कई नयी बातों की शुरुआत की। उन्होंने इसकी सांगठनिक-शैक्षणिक सम्भावनाओं का अध्ययन किया और इसे पूरी गहराई से उद्घाटित किया।

समोइलोवा ने गाँवों में प्रतिनिधिमण्डलों, किसान औरतों के प्रतिनिधिमण्डलों की बैठकों को संगठित करने पर विशेष रूप से कड़ी मेहनत की। उस समय यह काम अभी बस अस्तित्व में आया ही था और इसके अच्छी तरह से संगठित होने की शुरुआतभर हुई थी, लेकिन इसका सारा सांगठनिक स्वरूप – इसके कार्यभार, नियम, दिशा-निर्देश सब कुछ समोइलोवा ने तय किये थे और प्रान्तीय स्त्री विभागों के प्रमुखों के तीसरे सम्मेलन में उन्हें व्यक्त किया था – यह एक तरह से विधायी संस्था का सम्मेलन था, जिसे पार्टी ने मज़दूर वर्ग के स्त्री तबक़े के बीच ज़िम्मेदारी के कामों का दायित्व सौंपा था।

सांगठनिक सवालों पर समोइलोवा ही रिपोर्टें तैयार करती और उन पर काम करती थीं। पार्टी की केन्द्रीय समिति के संयोजन ब्यूरो के माध्यम से जब भी स्त्री विभाग से सम्बन्धित कोई मामला उठाने की ज़रूरत होती तब हमेशा कॉमरेड समोइलोवा को ही यह काम सौंपा जाता। महज़ उनकी उपस्थिति ही प्रायः किसी विवादास्पद सवाल के समाधान को आसान बना देती।

कॉमरेड समोइलोवा की पहल पर पार्टी के नौवें अधिवेशन में एक प्रस्ताव को मंज़ूरी दी गयी थी, जिसने स्त्री सम्बन्धी विभागों की और स्त्रियों के बीच काम को तेज़ करने की आवश्यकता को एक बार फिर से पुष्ट किया।

समोइलोवा ने स्त्री सम्बन्धी विभागों की अग्रणी कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देने में, ख़ासकर जनपदीय स्त्री प्रभागों के संगठनकर्ताओं को प्रशिक्षण देने में काफ़ी मेहनत की। उन्होंने मज़दूर आबादी के बीच से युवा प्रतिभाओं को तलाशने, मज़दूर और किसान औरतों के मन में स्वयं अपनी क्षमताओं के प्रति विश्वास जगाने, उन्हें काम का तरीक़ा सिखाने, योद्धाओं और नये समाज के निर्माताओं के रूप में उन्हें प्रशिक्षित करने में विलक्षण क्षमता का परिचय दिया। ऐसी प्रतिभा कुछ ही लोगों में होती है। समोइलोवा के अनेक शिष्य (स्त्री और पुरुष दोनों) रूस में चारों तरफ़ फैले हुए हैं और महत्त्वपूर्ण कामों को अंजाम दे रहे हैं।

समोइलोवा को प्रकृति का एक और वरदान हासिल था अर्थात उनमें अद्भुत रूप से सहज, स्पष्ट और सीधे-सादे लोकप्रिय पर्चे लिखने की योग्यता थी। स्त्री मज़दूरों और किसानों के लिए लिखे गये ये पर्चे, 'कम्युनिस्ट वूमन' और 'वूमन वर्कर' के "स्त्रियों के पन्ने" में उनके लेखों की ही तरह, जनता के लिए लेखन के बेहतरीन नमूने हैं। वह दृढ कम्युनिस्ट नज़रिये के साथ-साथ सरलता से पेश आना और जनता के जीवन के क़रीब की साधारण घटनाओं को लेकर उनसे उन अहम मुद्दों के रूप में निष्कर्ष निकालना जानती थीं जो मज़दूर वर्ग को उसके संघर्ष में चुनौती दे रहे थे। उन्हें अलंकृत और लच्छेदार जुमले पसन्द नहीं थे। उनकी शैली सरल और उनके पाठकों के अनुरूप होती थी। वह ईमानदारी और गर्मजोशी से हमेशा विषय के उपयुक्त बोलती थीं। समोइलोवा द्वारा शिक्षित कार्यकर्ताओं ने उनके पर्चों से रिपोर्टें तैयार करना और उन कठिन परिस्थितियों में, जिनमें ये ग्रामीण संगठनकर्ता ख़ुद को उलझा हुआ पाते थे, समाधानमूलक वार्ताएँ आयोजित करना सीखा। वे विशाल सोवियत संघ के कोने-कोने में भेजे गये, अधिकांश को कोई वेतन नहीं मिलता, रिहाइश की कोई जगह नहीं होती, पन्द्रह-पन्द्रह, बीस-बीस मील पैदल चलना होता, और जहाँ जो मिल जाये खा लेना पड़ता, ऐसे में अपनी निरन्तर जारी यात्राओं में सुनियोजित पार्टी नेतृत्व से वंचित होकर ये संगठनकर्ता आन्दोलनपरक सामग्री के लिए समोइलोवा के पर्चों का सहारा लेते थे।

(अगले अंक में जारी)

अनुवादः विजयप्रकाश सिंह

भगतसिंह के जन्मदिवस (28 सितम्बर) के अवसर पर

क्या है क्रान्ति?

क्रान्ति से हमारा अभिप्राय है–अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन।

समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मजदूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनिया भर के बाजारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के तन ढंकने-भर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति जरा-जरा-सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

यह भयानक असमानता और जबर्दस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिए जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

आमूल परिवर्तन की आवश्यकता

सभ्यता का यह प्रासाद यदि समय रहते संभाला न गया तो शीघ्र ही चरमराकर बैठ जायेगा। देश को एक आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। और जो लोग इस बात को महसूस करते हैं उनका कर्तव्य है कि साम्यवादी सिद्धान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण करें। जब तक यह नहीं किया जाता और मनुष्य द्वारा मनुष्य का तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण, जिसे साम्राज्यवाद कहते हैं, समाप्त नहीं कर दिया जाता तब तक मानवता को उसके क्लेशों से छुटकारा मिलना असम्भव है, और तब तक युद्धों को समाप्त कर विश्व-शान्ति के युग का प्रादुर्भाव करने की सारी बातें महज ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। क्रान्ति से हमारा मतलब अन्ततोगत्वा एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना से है जो इस प्रकार के संकटों से बरी होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। और जिसके फलस्वरूप स्थापित होने वाला विश्व-संघ पीड़ित मानवता को पूँजीवाद के बन्धनों से और साम्राज्यवादी युद्ध की तबाही से छुटकारा दिलाने में समर्थ हो सकेगा।

सामयिक चेतावनी

यह है हमारा आदर्श। और इसी आदर्श से प्रेरणा लेकर हमने एक सही तथा पुरजोर चेतावनी दी है। लेकिन अगर हमारी इस चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया और वर्तमान शासन-व्यवस्था उठती हुई जनशक्ति के मार्ग में रोड़े अटकाने से बाज न आयी तो क्रान्ति के इस आदर्श की पूर्ति के लिए एक भयंकर युद्ध का छिड़ना अनिवार्य है। सभी बाधाओं को रौंदकर आगे बढ़ते हुए उस युद्ध के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र की स्थापना होगी। यह अधिनायकतन्त्र क्रान्ति के आदर्शों की पूर्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। क्रान्ति मानवजाति का जन्मजात अधिकार है जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। मज़दूर वर्ग ही समाज का वास्तविक पोषक है, जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना मज़दूर वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है। इन आदर्शों के लिए और इस विश्वास के लिए हमें जो भी दण्ड दिया जायेगा, हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। क्रान्ति की इस पूजा-वेदी पर हम अपना यौवन नैवेद्य के रूप में लाये हैं, क्योंकि ऐसे महान आदर्श के लिए बड़े से बड़ा त्याग भी कम है। हम सन्तुष्ट हैं और क्रान्ति के आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इन्कलाब जिन्दाबाद!

('बम काण्ड पर सेशन कोर्ट में बयान' से)

पूँजीवाद के विनाशकारी संकट से उबरने के आसार नहीं!

(पेज 1 से आगे)

आत्महत्या करने वालों में छोटे किसानों की संख्या सबसे अधिक हो चुकी है। देश के हर हिस्से में बन रहे 'सेज़' के लिए लाखों हेक्टेयर उपजाऊ ज़मीन को खाली कराकर उद्योगों को सौंप दिया गया है तथा इतनी ही और ज़मीन हड़पे जाने की तैयारी है।

खेती के संकट के कारण गाँवों से मेहनतकशों के उजड़ने का सिलसिला रुकने वाला नहीं है। दूसरी ओर, उद्योगों में इस भारी आबादी को खपाने की अभी क्षमता ही नहीं है। इसकी एक बड़ी वजह यह है कि आज उद्योगों में श्रम सघनता घट रही है और मशीनीकरण बढ़ रहा है। नयी तकनोलॉजी के कारण कई मज़दूरों का काम एक-दो मज़दूरों से करा लिया जा रहा है। ऊपर से मन्दी की मार से मैन्युफैक्चरिंग उद्योग के उभरने के आसार जल्दी नज़र नहीं आ रहे है। ऐसे में गाँवों से उजड़ रही भारी ग़रीब आबादी शहरी बेरोज़गारों की फ़ौज में इज़ाफ़ा ही करेगी। इससे उनकी मोलभाव करने की शक्ति और कम होगी तथा मालिकों को मनमानी दरों पर मज़दूरों से बेतहाशा काम कराने का और मौका मिल जायेगा।

सेवा क्षेत्र में मन्दी का असर कम होने का अर्थव्यवस्था की आम स्थिति से कोई लेना-देना नहीं है। देश के बहुत बड़े परभक्षी उच्च मध्यवर्ग के पास मेहनतकशों को निचोड़कर अपार धन इकट्ठा हो चुका है। दफ्तरों में बैठे-बैठे बस कंप्यूटर, टेलीफोन और कलम चलाकर हर महीने लाखों की कमाई करने वाले इस अनुत्पादक वर्ग के पास खर्च करने को काले धन की कमी नहीं है। इसी की बदौलत होटल, मनोरंजन, संचार, बैंक-बीमा आदि में मन्दी कम होती दिख रही है। मुख्यत: काले धन के निवेश से ही भवन निर्माण क्षेत्र में भी लम्बी मन्दी के बाद उठान के संकेत मिल रहे हैं। सिर पर छत का जुगाड़ करने के लिए घर खरीदने की चाहत रखने वाली भारी आबादी के लिए तो अब भी घर एक सपना ही है, मगर अपनी वाली कमाई के निवेश के लिए घर या दुकान खरीदकर रख देने वालों की कमी नहीं है।

पूँजीवाद के तमाम हकीम-वैद्यों के हर तरह के टोनों-टोटकों के बावजूद पूँजीवाद का संकट दूर होता नज़र नहीं आ रहा है। तमाम पूँजीवादी आर्थिक संस्थाओं के आकलन बताते हैं कि अभी अगले दो-तीन वर्ष के भीतर मन्दी दूर होने के आसार नहीं हैं। और अगर उसके बाद धीरे-धीरे मन्दी का असर दूर हो भी गया तो वह उछाल अस्थायी ही होगी। भूलना नहीं चाहिए कि यह मन्दी पहले से चली आ रही दीर्घकालिक मन्दी के भीतर की मन्दी है और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था इससे उबरेगी तो कुछ ही वर्षों में इससे भी भीषण मन्दी में फँस जायेगी। इस बूढ़ी, जर्जर, आदमखोर व्यवस्था को क़ब्र में धकेलकर ही इसकी अन्तहीन तकलीफ़ों का अन्त किया जा सकता है – और इन्सानियत को भी इसके पंजों से मुक्त किया सकता है।

गोरखपुर मज़दूरों का आन्दोलन निर्णायक मुकाम पर

(पेज 12 से आगे)

ओर से एकदम फ़र्जी आँकड़े पेश किये जाते रहे और मज़दूरों की तरफ से पेश किये तथ्यों की सीधे अनदेखी की जाती रही। श्रम विभाग या प्रशासन ने बार-बार कहने पर भी एक बार भी फैक्ट्री के हालात का खुद ज़ायज़ा लेने की कोशिश नहीं की। गोरखपुर के तथाकथित जनप्रतिनिधियों का भी मालिकों को वरदहस्त है। इसी के दम पर मालिकान अब तक अड़े हुए हैं। मालिक वार्ता में तो नहीं आते हैं लेकिन मज़दूरों को धौंस में लेने के लिए बातचीत के वास्ते उन्हें अपनी कोठी पर या अपने क्लार्क होटल में आने का बुलावा भेजते रहते हैं।

दूसरी ओर मज़दूर एकदम एकजुट हैं और किसी भी उकसावे में आये बिना धीरज और हौसले के साथ मैदान में डटे हुए हैं। कुछ ही दिन पहले बरगदवा के तीन कारखानों के मज़दूरों की जीत ने उनमें यह भरोसा पैदा किया है कि फ़ौलादी एकजुटता और सूझबूझ के दम पर ही जीत हासिल की जा सकती है। मालिक की अघोषित तालाबन्दी वाले दिन से ही फ़ैक्ट्री गेट पर लगातार 400–500 मज़दूर सुबह-शाम मीटिंग करते हैं। फ़ैक्ट्री में काम करने वाली करीब 25 महिलाएँ पूरे जोश के साथ आन्दोलन के हर कदम में शिरकत कर रही हैं। अपने आन्दोलन से अनेक माँगें मनवाने में कामयाब हुए बरगदाव के तीन कारखानों–अंकुर उद्योग, वी.एन डायर्स धागा मिल एवं कपड़ा मिल–के मज़दूर भी अपने संघर्षरत मज़दूर भाइयों के साथ एकजुट हैं और हर मीटिंग, जुलूस और धरने में उनके प्रतिनिधि शामिल होते हैं। मज़दूर आन्दोलन के बिखराव के इस दौर में गोरखपुर के मज़दूरों की यह बढ़ती एकजुटता हर इलाके के मज़दूरों को राह दिखा रही है। अगर मज़दूर अपने बीच पैदा किये गये तरह-तरह के बँटवारों और फूट-बिखराव को दूर करके एकजु हो गये तो कुछेक आन्दोलनों में तात्कालिक असफलता से भी उनकी हार नहीं होगी। मज़दूरों की व्यापक एकजुटता की ताकत के सामने मालिकों और सरकार को झुकना ही पड़ेगा।

एक तरफ़ भूख और अकाल – दूसरी तरफ़ गोदामों में सड़ता अनाज

(पेज 1 से आगे)

भण्डार के बावजूद देश में कई करोड़ लोग हर रात भूखे सोते हैं। आज भी देश के बहुत से इलाकों में भूख से तड़पकर लोगों की मौत हो जाती है। गोदामों में अनाज सड़ता रहता है, या उसे चूहे खाते रहते हैं और बाज़ार में अनाज की क़ीमतें आसमान पर पहुँच जाती हैं। ग़रीबों- मेहनतकशों की थाली से दालें तो ग़ायब ही हो चुकी हैं, रोटियाँ भी कम होती जा रही हैं। खाद्य एवं कृषि संगठन द्वारा बनायी गयी भूख से पीड़ित 88 देशों की सूची में भारत नीचे से 66वें स्थान पर है!

ऐसा घिनौना मज़ाक सिर्फ़ पूँजीवादी व्यवस्था में ही हो सकता है – जहाँ मुनाफ़े से बढ़कर कोई चीज़ नहीं है। गोदामों में पड़ा अनाज अगर बाज़ार में आ जायेगा, या पेट भरने के लिए ग़रीबों को दे दिया जायेगा, तो बाज़ार में आपूर्ति ज़्यादा होने के कारण अनाज की क़ीमतें गिरने लगेंगी और मुनाफ़ा कम हो जायेगा। मुनाफ़े पर टिकी व्यवस्था में यह गुनाह कैसे हो सकता है! इसलिए भूख से मरें तो मरें – बाज़ार व्यवस्था को गड़बड़ नहीं होना चाहिए।

मुनाफ़े का यह ख़तरनाक तर्क पूरी दुनिया में ऐसे ही काम करता है। सबसे ज़्यादा अनाज पैदा करने वाले अमेरिका और आस्ट्रेलिया में हर साल लाखों टन अनाज सुअरों को खिला दिया जाता है जबकि अफ्रीका, एशिया और लातिनी अमेरिका के बहुत से देशों में भयानक भुखमरी फैली होती है। आज एक खेत से जितनी पैदावार हो सकती है, केवल उसके आधार पर हिसाब लगाया जाये, तो अकेले अमेरिका, कनाड़ा और ऑस्ट्रेलिया पूरी दुनिया का पेट भरने लायक अनाज पैदा कर सकते हैं। लेकिन वहाँ की सरकारें हर साल किसानों को करोड़ों डालर की सब्सिडी इसलिए देती हैं ताकि वे अपने खेत परती छोड़ दें। वजह वही मुनाफ़ा – अगर पैदावार ज़्यादा होगी तो बाज़ार में जिन्सों की क़ीमतें गिर जायेंगी और पूँजीपतियों के मुनाफ़े में कमी आ जायेगी।

मालों और उत्पादक शक्तियों की बरबादी पूँजीवाद के ज़िन्दा रहने की शर्त है। अभी ज़्यादा समय नहीं हुआ जब बाज़ार में कीमतें बनाये रखने के लिए बड़े-बड़े जहाज़ों में भरकर अनाज समुद्र में गिरा दिया जाता था या जला दिया जाता था। अब बरबादी के नये-नये तरीके आ गये हैं और बरबादी का पैमाना भी ज़्यादा बड़ा हो गया है।

जिस व्यवस्था में करोड़ों लोग भूख से तड़पते हों, जहाँ हिन्दुस्तान जैसे देश में रोज़ 9 हज़ार बच्चे, भूख, कुपोषण और उससे पैदा होने वाली बीमारियों से मर जाते हों और फिर भी लाखों टन अनाज पड़े-पड़े सड़ जाता हो, उस व्यवस्था को जितनी जल्दी हो तबाह कर दिया जाना चाहिए। पूँजीवाद की मौत देश के करोड़ों ग़रीब, मेहनतकश लोगों के जीने की शर्त है!!

पंजीयन संख्या 71980/99 | डाक पंजीयन संख्या SSP/LW-NP/399/2009-11 | प्रेषक डाकघर - महानगर | प्रेषण तिथि - माह की 13, 14, 15 तारीख़

दिशा छात्र संगठन–नौजवान भारत सभा ने शुरू किया
'शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान'

ग्रामीण बेरोज़गारों के लिए रोज़गार की योजना 'नरेगा' में सरकार ने यह माना है कि ग्रामीण आबादी को रोज़गार का अधिकार है और इसकी ज़िम्मेदारी सरकार की बनती है। लेकिन शहरी बेरोज़गारों की सरकार को कोई चिन्ता नहीं है। यह हालत तब है जब शहर के युवाओं में 60 प्रतिशत बेरोज़गार हैं। सरकारी आँकड़े ही बताते हैं कि शहरों में कुपोषण और भुखमरी गाँवों की तुलना में अधिक है। इसलिए अब **'दिशा छात्र संगठन'** और **'नौजवान भारत सभा'** ने एक साथ पाँच राज्यों में 'शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान' शुरू किया है। हालाँकि, दोनों संगठनों का मानना है कि ऐसी कोई योजना मौजूदा मुनाफ़ा केन्द्रित-व्यवस्था में बेरोज़गारी और ग़रीबी की समस्याओं का स्थायी समाधान नहीं पेश कर सकती है। लेकिन इस योजना से शहरी आबादी को भुखमरी, आत्महत्या और अपराध की ओर जाने से रोका जा सकता है और ऐसी योजना शहर के ग़रीबों-बेरोज़गारों का जन्मसिद्ध अधिकार है।

दिशा छात्र संगठन के राष्ट्रीय संयोजक **अभिनव** के अनुसार शहरों में ग़रीबी और बेरोज़गारी की स्थिति गाँवों से भी ज़्यादा विकराल है। जनगणना और राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के आँकड़ों से ही यह साफ़ पता चलता है कि पिछले दो दशकों में शहरों में बेरोज़गारी गाँवों के मुकाबले कहीं तेज़ रफ़्तार से बढ़ी है। ऐसे में यदि गाँवों के ग़रीबों के लिए **राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी योजना (नरेगा)** बनायी और लागू की गयी है तो शहरी ग़रीब और बेरोज़गार भी ऐसी योजना के हक़दार हैं। नरेगा लागू करते समय सरकार ने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है गाँव के ग़रीबों और बेरोज़गारों को रोज़गार का अधिकार है और यह सरकार की ज़िम्मेदारी है कि वह उन्हें रोज़गार मुहैया कराये। क्या इसी तर्क से शहरी ग़रीब और बेरोज़गार रोज़गार के अधिकारी नहीं हैं? शहर के ग़रीब और बेरोज़गार भी भारत के उतने ही नागरिक हैं जितने कि गाँव के ग़रीब और बेरोज़गार। शहरों में जीवन कहीं ज़्यादा कठिन होता है। यहाँ ग़रीब आबादी के लिए जीवनयापन ज़्यादा चुनौतीपूर्ण होता है। सरकारी आँकड़े ही बताते हैं शहरों में कुपोषण और भुखमरी गाँवों की तुलना में अधिक है। इसीलिए आज नरेगा के तर्ज़ पर **राष्ट्रीय शहरी रोज़गार गारण्टी योजना** की सख़्त ज़रूरत है।

निश्चित तौर पर ऐसी कोई योजना मौजूदा मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था में बेरोज़गारी और ग़रीबी की समस्याओं का स्थायी समाधान नहीं पेश कर सकती है। लेकिन फिर भी नरेगा से एक आबादी को फौरी राहत पहुँच सकती है और एक हद तक पहुँच भी रही है। इसी रूप में कोई शहरी रोज़गार गारण्टी योजना भी शहर के ग़रीबों के एक हिस्से को भूख, ग़रीबी, कुपोषण और अपराध के दलदल में धँसने से रोक सकती है। दूसरी बात यह है कि यह राज्य और सरकार की ज़िम्मेदारी है कि वह जनता को रोज़गार, शिक्षा, चिकित्सा और आवास मुहैया कराये और वह भी बिना किसी शुल्क के। क्योंकि उसकी कीमत जनता अप्रत्यक्ष करों के रूप में पहले ही अदा कर चुकी है।

शहरों में बेरोज़गारी बढ़ने की रफ्तार करीब 10 प्रतिशत तक पहुँच रही है जबकि गाँवों में यह 7 प्रतिशत से भी नीचे है। शहर में काम करने योग्य हर 1000 लोगों में से केवल 337 के पास रोज़गार है जबकि गाँवों यह आँकड़ा 417 है। शहरी भारत में हर वर्ष एक करोड़ नये काम करने योग्य लोग जुड़ते हैं जबकि रोज़गार पैदा होने की बात तो दूर, निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों के कारण रोज़गार लगातार घट रहे हैं। सरकारी परिभाषा के अनुसार शहरों की 70 प्रतिशत आबादी बेरोज़गार या अर्द्धबेरोज़गार है। सरकार की रोज़गार की परिभाषा भी मज़ाकिया है; जो कोई भी वर्ष के 73 दिन 8 घण्टे प्रतिदिन काम करता है उसे रोज़गारशुदा माना जाता है। यह परिभाषा बनायी ही इसलिए गयी है ताकि बेरोज़गारी को कम करके दिखलाया जा सके। यदि इस सरकारी पैमाने को छोड़कर वास्तविक स्थिति पर ग़ौर किया जाये, तो शहरों की 80 फ़ीसदी आबादी बेरोज़गारी या अर्द्धबरोज़गारी के कारण भयंकर आर्थिक और सामाजिक असुरक्षा का शिकार है।

यह अभियान देश के **पाँच राज्यों–दिल्ली, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बंगाल और महाराष्ट्र**–में नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन द्वारा एक साथ चलाया जाएगा। प्रमुख शहरों में **दिल्ली, नोएडा, ग़ाज़ियाबाद, गोरखपुर, लखनऊ, मऊ, लुधियाना, चण्डीगढ़, बठिण्डा, कोलकाता, मुम्बई** आदि शामिल हैं। इन शहरों में छात्रों-युवाओं की टोली नुक्कड़ सभाओं, घर-घर सम्पर्क अभियानों, क्रान्तिकारी गीतों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों, विचार-विमर्श चक्रों, साइकिल व पद यात्राओं आदि के ज़रिये रोज़गार गारण्टी के सन्देश को हर शहरी ग़रीब और बेरोज़गार तक पहुँचाएगी।

(पेज 4 पर जारी)

बरगदवा, गोरखपुर में दो कारखानों के मज़दूरों का डेढ़ माह से जारी जुझारू आन्दोलन निर्णायक मुकाम पर

बिगुल संवाददाता

गोरखपुर के बरगदवा औद्योगिक क्षेत्र में स्थित मॉडर्न लेमिनेटर्स लि. और मॉडर्न पैकेजिंग लि. के करीब एक हजार मज़दूरों का डेढ़ महीने से जारी आन्दोलन अब निर्णायक मुकाम पर पहुँच गया है। गत तीन अगस्त को उपश्रमायुक्त को माँगपत्रक देने से इस आन्दोलन की शुरुआत हुई थी।

मालिकों और श्रम विभाग की मिलीभगत और ज़िला प्रशासन की शह से जारी टालमटोल के चलते मालिकान डेढ़ महीने से वार्ताओं के बहाने इसे लटकाये हुए हैं। इस बीच मज़दूरों को डराने-धमकाने-ललचाने और आन्दोलन के नेतृत्व में अगुआ भूमिका निभा रहे बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं को आर्तकित करने की तमाम कोशिशों के बावजूद मज़दूर न सिर्फ एकजुट रहे हैं बल्कि आन्दोलन का तेवर और जुझारू हो गया है।

एक महीने से जारी वार्ताओं में मालिकों के टालमटोली रवैये और श्रम विभाग के पक्षपात के विरोध में मज़दूरों ने 11 सितम्बर को जिलाधिकारी कार्यालय पर ज़ोरदार प्रदर्शन करके क्रमिक अनशन शुरू कर दिया। दोनों कारखानों के सैकड़ों मज़दूर धरने पर बैठ गये। मज़दूरों के जुझारू तेवर से घबराये ज़िला प्रशासन के अधिकारियों ने देर रात अनशन स्थल पर पहुँचकर मज़दूरों के सामने उपश्रमायुक्त को बुलाकर आश्वासन दिया कि 12 सितम्बर की सुबह मालिक की मौजूदगी में एसडीएम के सामने वार्ता कराकर समझौता कराया जायेगा। इसके बाद मज़दूरों ने अगले दिन तक अपना अनशन व धरना सशर्त स्थगित कर दिया।

लेकिन इससे पहले प्रशासन ने मज़दूरों और उनके नेताओं को डराने की पूरी कोशिश की। रात करीब 9 बजे धरना स्थल पर पहुँचे एस.डी.एम. ने पुलिस बुला ली और संघर्ष समिति के अगुआ सदस्य तथा बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ता प्रशान्त को गिरफ़्तार करवा दिया। प्रशान्त ने जब कहा कि मैं ख़ुद आपके साथ थाने चल रहा हूँ तो एस.पी. महोदय ने उद्दण्डता से कहा कि "तुझे तो मैं घसीटकर ले जाऊँगा।" हालाँकि मज़दूरों के तीखे तेवर देखकर वे शान्त हो गये और चुपचाप प्रशान्त को थाने भेज दिया गया। लेकिन कुछ ही देर बाद मौके पर पहुँचे एस.एस.पी. के आदेश से पुलिस को प्रशान्त को वापस लेकर आना पड़ा।

जिला प्रशासन के दबाव डालने पर मालिक पवन बथवाल और किशन बथवाल 12 सितम्बर को एस.डी.एम. के समक्ष वार्ता के लिए पहुँचे लेकिन "बाहरी लोगों" यानी बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं को वार्ता में शामिल नहीं करने पर अड़ गये। प्रशासन की ओर से पाँच अगुआ मज़दूरों को वार्ता के लिए बुलाया गया लेकिन उन मज़दूरों ने भीतर जाते ही ऐलान कर दिया कि 'बिगुल' के साथियों के बिना वार्ता नहीं होगी। मज़दूरों के अड़ जाने पर एस.डी.एम. ने 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के तपीश मैंदोला और प्रशान्त को भी बुला लिया। काफ़ी हील-हुज्जत के बाद दोनों मालिक न्यूनतम मज़दूरी के बराबर रेट से भुगतान करने के लिए तैयार हो गये। एसडीएम द्वारा डी.एल.सी. के सामने लिखित समझौता करने का निर्देश देने के बाद मज़दूर राज़ी हुए कि 13 सितम्बर से काम पर लौट आयेंगे। लेकिन डी.एल.सी. कार्यालय में मालिक के प्रतिनिधि फिर अपनी बात से पलट गये और न्यूनतम मज़दूरी देने से साफ़ इंकार कर दिया। अख़बार प्रेस में जाने तक वार्ता टूट चुकी थी और मज़दूर फिर से जिलाधिकारी कार्यालय पर धरना और अनशन शुरू करने की तैयारी कर रहे थे।

आन्दोलन के इन डेढ़ महीनों के दौरान मालिकों ने मामले को लम्बा खींचकर मज़दूरों को थका डालने के लिए हर हथकण्डे अपनाये।

12 अगस्त की पहली वार्ता में मालिकों की ओर से मैनेजमेण्ट का कोई प्रतिनिधि आने के बजाय उनका वकील आया। फिर 21 अगस्त को वार्ता तय हुई। इससे पहले 18-19 की रात को मालिकों ने 2 लूम खुलवाकर फैक्ट्री से बाहर भिजवा दिये और प्रचार करवाया कि फैक्ट्री बन्द होने वाली है। लेकिन इससे डरने की बजाय मज़दूरों ने पूरी घटना की लिखित शिकायत डी.एल.सी. कार्यालय में की।

21अगस्त की वार्ता में भी मैनेजमेण्ट का कोई व्यक्ति नहीं आया। 22 अगस्त को मालिक ने यह कहकर आघोषित तालाबन्दी कर दी कि जिसे न्यूनतम मज़दूरी चाहिए वह फैक्ट्री से बाहर रहे। इस पर सभी मज़दूरों ने काम बन्द कर दिया और फ़ैक्ट्री से बाहर आ गये। 23 अगस्त को वार्ता में मालिक की ओर से उसके श्रम सलाहकार ने कहा कि फैक्ट्री चले या न चले, मालिक न्यूनतम दर से मज़दूरी नहीं देगा–मीटर रेट ही चलेगा। 25 अगस्त की वार्ता में मज़दूरों ने कहा कि वे फिलहाल मीटर रेट से मज़दूरी लेने को तैयार हो सकते हैं बशर्ते मीटर रेट की गणना सही तरीके से की जाये। इस पर प्रोडक्शन के आँकड़े लेकर आने की बात कहकर श्रम सलाहकार ने फिर 2 सितम्बर तक का समय ले लिया।

2 सितम्बर को मैनेजमेंट की ओर से श्रम सलाहकार जो आँकड़े लेकर आया वह एकदम फर्ज़ी थे और मज़दूर प्रतिनिधियों ने कुछ ही सवालों में उसकी पोल खोल दी। इसके बाद 5 सितम्बर और 8 सितम्बर की वार्ताओं में भी यही कहानी दोहरायी गयी। मज़दूरों ने जब प्रति लूम प्रोडक्शन के आँकड़े माँगे तो मालिक ने साफ़ झूठ बुलवा दिया कि ऐसे आँकड़े कम्प्यूटर से रोज़ हटा दिये जाते हैं और उनके पास कोई रिकार्ड नहीं है।

इस बीच वार्ताओं के समानान्तर मज़दूरों ने सड़कों पर जुझारू प्रदर्शन और अपनी न्यायोचित माँगों के जनता के बीच प्रचार का काम जारी रखा। 27 अगस्त से 5 सितम्बर के बीच उन्होंने बरगदवा क्षेत्र में तीन बड़े जुलूस निकले और इलाके के सभी कारखानों के सामने से गुज़रते हुए अपनी बात हज़ारों मज़दूरों तक पहुँचायी। 7 सितम्बर को सैकड़ों मज़दूर जुलूस की शक्त में गोरखपुर से मोहद्दीपुर इलाके में पहुँचे जहाँ मालिकों की विशाल कोठी स्थित है। करीब 5 घण्टे तक मज़दूरों ने बारिश में भीगते हुए पूरे इलाके में नारेबाज़ी और नुक्कड़ सभाएँ करके अपनी माँगों और आक्रोश से स्थानीय आबादी को परिचित कराया। इस बीच 6 सितम्बर से ही मज़दूरों ने आसपास के गाँवों से आटा, दाल, आलू, कण्डा आदि इकट्ठा करके फैक्ट्री के गेट पर सामूहिक भोजनालय शुरू कर दिया जिसमें पहले दिन 350 और दूसरे दिन करीब 400 मज़दूरों ने भोजन किया और लगातार गेट पर ही जमे रहे।

8 सितम्बर की वार्ता के दिन सैकड़ों मज़दूरों ने फिर जिलाधिकारी कार्यालय पर पहुँचकर धरना दिया और 9 सितम्बर को पुलिस को चकमा देते हुए शहर की विभिन्न सड़कों पर जुलूस निकालकर प्रशासन और मैनेजमेंट के खिलाफ जमकर नारे लगाये।

इस बीच एक सितम्बर को शहर के बुद्धिजीवियों के एक प्रतिनिधिमण्डल ने ज़िलाधिकारी से मिलकर उन्हें दोनों कारखानों में मज़दूरों की बुरी स्थिति की जानकारी दी तथा इस मामले में हस्तक्षेप करके जल्दी समाधान कराने की माँग की। प्रतिनिधिमण्डल में वरिष्ठ पत्रकार गिरिजेश राय, कथाकार मदनमोहन, वरिष्ठ राजनीतिक कार्यकर्ता फतेहबहादुर सिंह और फिल्मकार प्रदीप सुविज्ञ शामिल थे।

10 सितम्बर की वार्ता में मालिकों का वकील एक बार फिर फर्ज़ी आँकड़ों का पुलिन्दा लेकर आ गया। आँकड़े इस कदर झूठे थे कि जब मज़दूर प्रतिनिधियों ने उसकी एक प्रति माँगी तो उसने देने से मना कर दिया। यहाँ तक कि डी.एल.सी. के कहने के बावजूद उसने मज़दूरों को आँकड़े नोट करने तक का मौका नहीं दिया कि कहीं झूठ का भाँडा न फूट जाये।

इस आन्दोलन ने मालिकों के साथ श्रम विभाग और जिला प्रशासन की मिलीभगत को एकदम नंगा कर दिया है। एक महीने से वार्ताओं का नाटक जारी है लेकिन आज तक किसी भी वार्ता में न मालिक खुद आया और न ही मैनेजमेंट का कोई वरिष्ठ अधिकारी। तरह-तरह बहानों से सिर्फ तारीख आगे बढ़ायी जाती रही। मालिकों की

(पेज 11 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी डा. दूधनाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा वाणी ग्रापिफक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग: कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ। सम्पादक : **डा. दूधनाथ, सुखविन्दर** • सम्पादकीय पता : **69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 006** • सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर,